

# समरथ

जनवरी-मार्च, 2020 ♦ नई दिल्ली



मैं आदि और अंत हूँ

दो नितम्ब  
एक गर्भाशय  
एक योनि  
मात्र नहीं हूँ मैं  
मैं विश्व का  
विधान, संविधान हूँ  
मैं सृष्टि हूँ  
प्रकृति हूँ  
मैं ब्रह्म हूँ  
जन्म, वजूद  
हैसियत, अस्तित्व  
व्यक्ति, व्यक्तित्व  
जीवन और मृत्यु  
मुझसे हैं  
मेरी प्रतिशोध प्रतिज्ञा में  
सभ्यताएं नष्ट हो जाती हैं  
मेरे प्रण से  
धरती फट जाती हैं  
मैं रस्मों रिवाज का  
ठीहा नहीं हूँ  
सिंदूर पोतने  
और मंगल सूत्र  
चढ़ाने वाला  
पत्थर नहीं हूँ  
मैं आग हूँ  
मेरा अंश ही हैं वंश  
अपने रक्त, मेरु, मज्जा से  
अपने ही ममत्व में  
भीगती हुई  
दुनिया को रचती हूँ  
मैं आदि और अंत हूँ!

● मंजुल भारद्वाज

गलती वहीं हुई थी

तुम्हारे अंधेरे मेरी ताक में हैं,  
और मेरे हिस्से के उजाले,  
तुम्हारी गिरफ्त में।  
हाँ

गलती वहीं हुई थी  
जब मैंने कहा था,  
तुम मुझको चांद ला के दो,  
और मेरे चांद पर  
मालिकाना तुम्हारा हो गया।

● संध्या नवोदिता

# नाहि तो जन्म नसाई

यह कहने की ज़रूरत नहीं कि राष्ट्रीय राजधानी में सांप्रदायिक हिंसा की जो आग भड़की उसके लिए माहौल पहले से तैयार किया जा रहा है। इन दंगों की जो तस्वीरें विभिन्न माध्यमों से हम तक पहुँची हैं उन्हें देखकर रूह कांप उठती है। इन दंगों के कारणों का न तो पता लगाने की ज़रूरत है और न ही उनके विश्लेषण की। केंद्रीय और राज्य सरकारों की असंवेदनशीलता और पुलिस की भूमिका के बारे में बहुत कुछ कहा जा चुका है, मगर हम सभी जानते हैं कि ये क्यों हो रहा है और क्यों होने दिया जा रहा है। दुर्भाग्य से हम सभी ने अपनी आंखें बंद कर ली हैं और चुप रहकर चाहे और अनचाहे ढंग से इस घटनाक्रम में अपनी हिस्सेदारी निभा रहे हैं।

दिल्ली में सिर्फ तीन दिनों में पचास से ज्यादा लोगों का इन दंगों की भेंट चढ़ जाना कोई ऐसी घटना नहीं जिसे आसानी से भुलाया जा सके। साफ दिखाई देता है कि हिंसा की इस घटिया राजनीति का फायदा किससे पहुँचा और इनमें किसको निशाना बनाया गया और उसका शिकार कौन लोग हुए। भला सोचिए कि उस 26 वर्षीय नवयुवक का क्या कुसूर था जो सौदा लेकर घर लौट रहा था? उस ऑटो रिक्शा ड्राइवर ने किसी का क्या बिगाड़ा था जिसे उस समय गोली लगी जब वह सवारी उतार रहा था? इन मरने वालों में एक 15 वर्षीय किशोर और 85 वर्षीय महिला भी हैं और एक ऐसा बाप भी जो अपने बच्चों के लिए टॉफियां लेने बाहर निकला था। इनमें उत्तराखंड का एक 20 वर्षीय युवक भी है जो कि चंद महीने पहले दिल्ली आया था। एक ऐसा किशोर भी है जो इंजीनियर बनने का सपना देख रहा था।

मृतकों और घायलों की ये सूची बहुत लंबी है मगर इसमें अधिकतर ऐसे ही लोग हैं जो अपनी या अपने कुनबे के जीवन को बेहतर बनाने के लिए संघर्षरत थे। ये दशा सिर्फ दिल्ली की ही नहीं। हर जगह इस तरह की हिंसा की भेंट चढ़ने वाले वही होते हैं जिनका इससे दूर-दूर तक नाता भी नहीं होता। बस वो 'आसान शिकार' होते हैं जिनकी उम्रभर की कमाई, एक-एक ईंट जोड़कर बनाया घर, पाई-पाई जमा करके खड़ी की गई दुकान पलभर में जलकर राख हो जाती है। ऐसा क्यों होता है या क्यों होने दिया जाता है? आखिर हम अचानक इतने क्रूर क्यों बन जाते हैं? इसका सिलसिला कब रूकेगा? हमें इन सबका जवाब ढूँढना होगा।

# वैष्णव जन



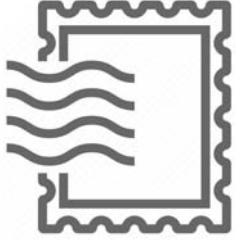
अंशु मालवीय

वैष्णव जन  
आखेट पर निकले हैं!  
उनके एक हाथ में मोबाइल है  
दूसरे में देशी कट्टा  
तीसरे में बम  
और चौथे में है दुश्मनों की लिस्ट

वैष्णव जन  
आखेट पर निकले हैं!  
वे अरण्य में अनुशासन लाएंगे  
एक वर्दी में मार्च करते  
एक किस्म के पेड़ रहेंगे यहां

वैष्णव जन  
आखेट पर निकले हैं!  
वैष्णव जन सांप के गद्दे पर लेते हैं  
लक्ष्मी पैर दबा रही हैं उनका  
मौक्रे पर आंख मूंद लेते हैं ब्रह्मा  
कमल पर जो बैठे हैं।

वैष्णव जन  
आखेट पर निकले हैं!  
जो वैष्णव नहीं होंगे  
शिकार हो जाएंगे...  
देखो क्षीरसागर की तलहटी में  
नरसी की लाश सड़ रही है।



## सबा रहमान का पत्र अरविंद केजरीवाल के नाम



प्रिय श्री अरविंद केजरीवाल,

आप की शानदार जीत पर आपको हार्दिक बधाई। आपको यह जीत निश्चित रूप से एक अभूतपूर्व ध्रुवीकृत चुनाव अभियान के खिलाफ मिली है जिसे राष्ट्रीय राजधानी ने शायद ही पहले कभी देखा है। यह सराहनीय है कि आप सिर्फ और सिर्फ—शिक्षा, स्वास्थ्य, स्वच्छता, बिजली और स्वच्छ प्रशासन जैसे मुद्दों को संबोधित करते रहे—भाजपा द्वारा आपको अपनी विभाजनकारी राजनीति में खींचने के तमाम प्रयासों के बावजूद।

मुझे लगता है कि, आपके अभियान ने और शाहीन बाग में विरोध करने वाली महिलाओं ने जिन चुनौतियों का सामना किया, उनमें कई समानताएं हैं।

एक ओर आपको 'आतंकवादी' और 'राष्ट्र-विरोधी' कहा जाता रहा, वहीं दूसरी ओर शाहीन बाग, जो आपके शहर-राज्य का मुस्लिम-बहुल इलाका है और जहां नागरिकता (संशोधन) अधिनियम (सीएए) और राष्ट्रीय रजिस्टर के विरोध में सड़क पर आंदोलन चल रहा है, को भी बदनाम करने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी गई। उसे पाकिस्तान कहा गया और दिल्ली के मतदाताओं को यह बताने की लगातार कोशिश की गई कि यह प्रदर्शन प्रायोजित है, और प्रदर्शनकारी दिल्ली वालों की माँ-बहनों का बलात्कार तक कर सकते हैं।

लेकिन आप की तरह, शाहीन बाग भी अपने मुद्दे पर केंद्रित रहा और उसने भाजपा और मीडिया के एक वर्ग द्वारा लगातार दी जा रही गालियों का, और प्रदर्शनकारियों एवं जामिया मिलिया इस्लामिया के छात्रों पर गोली चलाने वालों को उन्हीं की भाषा में प्रत्युत्तर देने से इनकार कर दिया। इसके बजाय, शाहीन बाग ने कला, कविता और फूलों के साथ 'बदनाम' बिरयानी परोसते हुए शांतिपूर्वक अपना विरोध जारी रखा।

यद्यपि आपने संसद में सीएए के खिलाफ मतदान किया, लेकिन आप अपने चुनाव-प्रचार के दौरान इस विवादास्पद से बचते रहे लेकिन आपके बिजली-पानी मॉडल पर मुहर लगाने का श्रेय शाहीन बाग को भी जाता है वह भी तब जब आप सड़क की रुकावट को ध्यान बांटने वाली कोई चीज बता रहे थे अथवा गृहमंत्री पर तंज कसते हुए दो घंटे में सड़क खाली करा देने की बात कर रहे थे।

भले ही चुनाव के दौरान आपने शाहीन बाग के साथ जुड़ने से इनकार कर दिया हो पर क्या आपको एहसास हुआ कि आपके और शाहीन बाग में कितना कुछ एक जैसा है?

आपकी जिस आन्दोलनकारिता की बदौलत आपको राजनीतिक स्टारडम मिला कुछ उसी तरह की आकांक्षा शाहीन बाग की आंदोलनकारी महिलाओं की भी हैं—स्वच्छ राजनीति, सार्वजनिक जीवन में पारदर्शिता, राजनीतिक जवाबदेही और गरीब-समर्थक सरकार। एक आरटीआई-कार्यकर्ता-राजनेता, प्रतिष्ठित मैगसेसे पुरस्कार विजेता के तौर पर आप और

शाहीन 'बागी' महिलाएँ एक ही तरह के हैं।

साल 2014 की जनवरी की एक बेहद सर्द रात की एक अमिट छवि है जब आप गणतंत्र दिवस से ठीक पहले के कड़े सुरक्षा-प्रबंधों के बावजूद दिल्ली की एक सड़क पर अपनी कार वैनगनआर के किनारे एक रजाई में सो रहे थे। आप दिल्ली के मुख्यमंत्री के तौर पर, पुलिस द्वारा आपके कानून मंत्री को सहयोग करने से इनकार करने के विरोध में आंदोलन कर रहे थे। एक और लोकप्रिय छवि, 2018 की है जब आप अपने सहयोगियों के साथ उपराज्यपाल कार्यालय के बाहर पड़े सोफों पर लेटकर धरना दे रहे थे।

क्या शाहीन बाग, विरोध के उसी अधिकार का प्रयोग नहीं कर रहा जो तब आपके पास था और आज भी है? जब शाहीन बाग कहता है कि कागज़ नहीं दिखाएंगे, तो क्या आपको कांग्रेस सरकार के खिलाफ अपने उत्साही आंदोलन की याद नहीं आती? उस आंदोलन की जब 2012 में आपने दिल्ली में बिजली-पानी सत्याग्रह शुरू किया था और लोगों को अपने बिलों का भुगतान न करने का आह्वान किया था?

सनद रहे कि आप की पार्टी ने नहीं बल्कि कांग्रेस ने CAA और NRC के खिलाफ सीधा और साफ रुख अपनाया है। कांग्रेस के कुछ बड़े नेताओं ने विरोध स्थल का दौरा भी किया। लेकिन शाहीन बाग ने यह सुनिश्चित किया कि वह दिल्ली के चुनावों को एक त्रिकोणीय मुकाबले में नहीं बदलेगा जिससे भाजपा को कोई अतिरिक्त लाभ पहुंचे।

11 फरवरी को, आपके ओखला विधायक, जहां शाहीन बाग स्थित है, ने दूसरे सबसे बड़े अंतर से जीत हासिल की। राजनीतिक पंडितों का कहना है कि दिल्ली भर के मुसलमानों ने आपके लिए मतदान किया है। मैं साथ ही यह भी कहती हूँ कि शाहीन बाग और उसके मुसलमान इस बात पर जोर देते हैं कि वे वोट बैंक के रूप में थक गए हैं और इस प्रक्रिया ने उन्हें कमतर मनुष्य बना दिया है। उनकी लड़ाई, जैसा कि वे अथक रूप से रेखांकित कर रहे हैं, वोट की राजनीति से ऊपर है।

आप अब एक प्रशासक की छवि बनाने की कोशिश कर रहे हैं, लेकिन क्या आप इस बात से इनकार कर सकते हैं कि आपका राजनीतिक करियर भ्रष्टाचार के खिलाफ एक आंदोलन द्वारा पैदा हुआ था? क्या आप, आपकी पार्टी और आपकी सरकार भी धर्मनिरपेक्ष, प्रगतिशील और समावेशी भारत के लिए खड़े हैं—शाहीन बाग की इन महिलाओं की तरह।

अब जब चुनाव हो चुके हैं और इसकी धूल छंट चुकी है, तो क्या आपको नहीं लगता कि आपको एक बार शाहीन बाग जाना चाहिए? नहीं, शाहीन बाग नहीं चाहता कि किसी भी राजनीतिक दल को बुलाया जाए। वे यह भी नहीं चाहते कि उनके विरोध का राजनीतिकरण हो। वहाँ उपस्थित सभी यही चाहते हैं कि उनकी मांग को स्वीकार किया जाए और उन्हें बदनाम न किया जाए। और आपको, श्रीमान, उनके पास जाना चाहिए, उनके प्रतिरोध का समर्थन करना चाहिए, और उनसे आपका संवाद होना चाहिए—उनके मुख्यमंत्री के तौर पर, एक दिल्ली वाले के तौर पर और एक साथी देशवासी के तौर पर। और हां, आप वहां हनुमान चालीसा का पाठ भी कर सकते हैं, शाहीन बाग भी इस पाठ में शामिल होकर यकीनन प्रसन्न होगा। आप अभी तक इससे वंचित रहे लेकिन यहां विभिन्न धर्मों की प्रार्थनाएं की जाती रही हैं और महात्मा गांधी के भजनों का तो शाहीन बाग विशेष रूप से शौकीन हैं।

इसके अलावा, आपकी जीत का श्रेय शाहीन बाग को भी कम नहीं जाता। इन्होंने भी गजब कर दिया है।

—अनुवाद कुमार मुकेश  
साभार : Indian Express

## 4 • समरथ

जनवरी-मार्च, 2020



## महात्मा गांधी : जख्मों पर मरहम रखता एक बूढ़ा आदमी

■ पीयूष बबले

इस लेख में आपको वह महात्मा मिलेगा, जो अपौरुषेय है। कैसे गांधी ने दंगा पीड़ित नोआखाली में मुसलमानों के हाथों मंदिर में देव प्रतिमाएं लगवाईं। कैसे बिहार में दंगों में शामिल कांग्रेसियों से खुद को पुलिस के हवाले करने को कहा। और बाकी नेता जब सिर्फ राम भजते हैं तब वह किस तरह जलती हुई बस्तियों में अकेले ही नंगे पांव घूमता रहा। कैसे उसने भारत की आत्मा की तरफ बढ़ रही नाथूराम गोडसे की तीन गोलियों को अपनी छाती पर झेलकर भारत को हमेशा के लिए बरबाद होने से बचा लिया। साथ ही गांधी के आखिरी उपवास के एक-एक दिन का ब्योरा भी है। तो आइए वैष्णवजन इसे पढ़ते हैं...

अंग्रेजों का जाना तय था। आजादी भारत के दरवाजे पर दस्तक दे रही थी। लेकिन आजादी के दीवाने हिंदुस्तानी, अब हिंदुस्तानी कहां रह गए थे। वे तो मजहब की निर्मम तलवार से काट दिए गए थे। हिंदू कुछ और ज्यादा हिंदू हो गए थे और मुसलमान कुछ और ज्यादा मुसलमान। सदियों पुरानी हिंदू-मुस्लिम एकता की भव्य इमारत को अंग्रेजी तंत्र का दीमक चाट चुका था। जिन्ना पाकिस्तान बनाने की उतावली में पागलपन की हद तक पहुंच गए थे। 15 अगस्त, 1946 को उन्होंने हिंदुओं के खिलाफ “डायरेक्ट एक्शन” (सीधी कार्रवाई) का फरमान जारी कर दिया। हिंदू महासभा भी “निग्रह-मोर्चा” बनाकर प्रतिरोध की तैयारियों में जुट गई। गृहयुद्ध की सारी परिस्थितियां सामने थी। हिंदुस्तान की धड़कनों को पहचानने वाले महात्मा गांधी आने वाले समय की भयंकरता समझ रहे थे। बापू ने आखिरी वाइसराय माउंट बेटन से अपनी दूसरी मुलाकात में साफ-साफ कह दिया, “अंग्रेजी तंत्र की ‘फूट डालो और शासन करो’ की नीति ने वह स्थिति बना दी है, जब सिर्फ यही विकल्प बचे हैं कि या तो कानून-व्यवस्था बनाए रखने के लिए अंग्रेजी राज ही चलता रहे या फिर भारत रक्त स्नान करे। अवश्य ही, भारत रक्त-स्नान का सामना करने को तैयार है।”

“जल उठा नोआखाली” (अगस्त 1946 से मार्च 1947 तक) — गांधी जिस रक्त स्नान की बात कर रहे थे, पूर्वी बंगाल का नोआखाली जिला उसका

पहला शिकार बना। जिन्ना के जिन्ना के “डायरेक्ट एक्शन” प्लान को संयुक्त बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री शहीद सोहरावर्दी ने अमली जामा पहनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी। मुस्लिम बहुल इस जिले में हिंदुओं का व्यापक कत्लेआम हुआ। पंद्रह दिन तक तो बाकी दुनिया को इस नरसंहार की कानोकान खबर तक नहीं पहुंची। इसे नियति की विडंबना ही कहेंगे कि जिन मुसलमानों ने यह बर्बर कृत्य किया, दरअसल नोआखाली के वे गरीब, अशिक्षित, बहकाए हुए मुसलमान मुश्किल से पचास वर्ष पूर्व के धर्म-परिवर्तित हिंदू थे।

नोआखाली नरसंहार ने समूचे हिंदुस्तान को स्तब्ध कर दिया। हिंदू-मुस्लिम एकता के गांधी के प्रयासों को यह एक बहुत बड़ा धक्का था। बापू के लिए परीक्षा की असली घड़ी आ गई थी। उन्होंने तुरंत दिल्ली से नोआखाली जाने का निर्णय लिया। कई लोगों ने आशंका व्यक्त की कि हथियार बंद, उन्मादी गुंडों के सामने नोआखाली जाना बेकार है। अक्तूबर के आखिर में दिल्ली से कूच करते वक्त बापू ने इन चिंतित लोगों से कहा, “मेरी अहिंसा लूले-लंगड़े की असहाय अहिंसा नहीं है। मेरी जीवंत अहिंसा की यह अग्निपरीक्षा है। अगर हुआ तो मर जाऊंगा, लेकिन वापस नहीं लौटूंगा।”

अनोखा राहत कार्य—महात्मा जी ने नोआखाली पहुंचकर अकेले ही पीड़ित गांवों का पैदल भ्रमण करना शुरू कर दिया। इस यात्रा के दौरान उन्होंने

चप्पल पहनना भी छोड़ दिया। उन्हें लगता था कि नोआखाली एक श्मशान भूमि है, जहां हजारों आदमियों की मजार बनी है। ऐसी मजार पर चप्पल पहनकर चलना उन मृत आत्माओं का अपमान करना है। वे जिस गांव में जाते वहां किसी मुसलमान के घर में ही ठहरते। गांव का दौरा करते तो मुस्लिम व्यक्तियों को साथ लेते और उनसे बेघर-बार हिंदुओं को सांत्वना देने और सहायता करने को कहते। जब भयभीत हिंदू सैनिक सुरक्षा की मांग करते तो बापू समझाते कि उन्हें बहादुरी से काम लेना चाहिए क्योंकि दुनिया की कितनी भी बड़ी सेना कायरों की रक्षा नहीं कर सकती। उल्टे, सेना की उपस्थिति भय और अविश्वास को और गहरा बना देती है।

उन्होंने गांव-गांव में हिंदू-मुस्लिम ग्राम रक्षा समितियां बनाईं। समितियां भी ऐसी जिनके हिंदू प्रतिनिधि का चुनाव मुसलमान करते और मुस्लिम प्रतिनिधि को हिंदू चुनते थे। इन्हीं प्रतिनिधियों पर अमन-चैन कायम रखने की जिम्मेदारी रहती। इन असैनिक समितियों का मुसलमानों के हृदय पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यहां भटियारपुर गांव का घटनाक्रम बहुत प्रासंगिक है। जहां एक मंदिर को तहस-नहस कर डाला गया था। गांधी के प्रभाव में मुस्लिम युवकों ने स्वयं उस मंदिर का पुनर्निर्माण किया और बापू ने अपने हाथों से वहां देव प्रतिमा स्थापित की। धीरे-धीरे तनाव कम हो रहा था। अब गांधी की चिंता हिंदू स्त्रियों को लेकर थी। तमाम शारीरिक और मानसिक अत्याचार झेल चुकी इन स्त्रियों को उनके ही परिवार वाले पुनः स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। गांधी जी ने हिंदुओं को समझाया कि इन स्त्रियों की घर वापसी शर्मिंदगी नहीं बल्कि गौरव करने योग्य बात होगी।

कई हिंदू परिवार अपनी करनी पर लज्जित हुए और स्त्रियों को सम्मानपूर्वक अपने घरों में वापस ले आए। धीरे-धीरे तनाव में कमी आती जा रही थी। बापू अब बिहार जाना चाहते थे जहां कौमी दंगे बहुत उग्र रूप ले चुके थे। लेकिन वे यह भी सुनिश्चित कर लेना चाहते थे कि नोआखाली फिर से सुलग न उठे। गांधी जी की दुविधा देखते हुए नोआखाली के पुलिस अधीक्षक श्री अब्दुल्ला ने वादा किया “आपके रहते दंगे नहीं होंगे।” बापू ने कहा, “तब ठीक है, अगर अब दंगे हुए तो गांधी तुम्हारे दरवाजे पर मर जाएगा।” अब्दुल्ला गांधी जी का मन्तव्य समझ गए और कहा, “मेरे जीते जी दंगे नहीं होंगे।” गांधी जी अब संतुष्ट थे। पांच महीने नोआखाली में रहने के बाद वे बिहार के लिए रवाना हो गए।

### बिहार की कौमी आग ( 5 मार्च, 1947 से 48 तक )—

5 मार्च, 1947 को गांधी जी बिहार पहुंच गए। वहीं बिहार जहां 1916 में उन्होंने चंपारण में आंदोलन शुरू किया था। यही तो वह भूमि थी जिसने मोहनदास गांधी को महात्मा गांधी बनाया था। आज उसी बिहार को नोआखाली और कलकत्ता में अपने हिंदू परिजनों की हत्या ने उकसा दिया था। समाचार पत्र आग में घी की तरह काम कर रहे थे। “नोआखाली और बंगाल का हत्याकांड देश के पुरुषत्व पर लांछन

है।” ऐसा समाचार पत्रों का सार था। यही नहीं जब हिंदुओं ने बंगाल में मारे गए लोगों के शोक में दीपावली न मनाने का फैसला किया तो छपरा शहर में मुस्लिम लीग के एक नेता ने मस्जिद वक्तव्य दिया, “हिंदुओं के घरों में मातम मनाया जा रहा है इसलिए इस मुसलमानों को जश्न मनाना चाहिए।” यह जले पर नमक छिड़कना था। फिर क्या था, बिहारी हिंदू के सब्र का बांध टूट गया। पटना, छपरा, मोधीर, भागलपुर, संधाल परगना और गया जिले कौमी दंगों से दहल उठे। लेकिन इस बात की दाद देनी होगी कि बिहारी हिंदू अपने दुख और आक्रोश में भी गांधी की अदब करना नहीं भूला था। 6 नवंबर को नोआखाली में गांधी की इस घोषणा के बाद कि जब तक बिहार का पालगपन बंद नहीं होता, वे हर रोज आधे दिन का उपवास रखेंगे, बिहार की हिंसा में एकदम से कमी आ गई थी।

बिहार की हिंसा पर तो गांधी के नोआखाली वाले उपवास ने ही काफी हद तक नियंत्रण कर लिया था, अब असल काम था उजड़े हुए घरों को फिर से बसाना। बिहारियों की गांधी पर अटूट श्रद्धा थी इसीलिए यहां का राहत कार्य नोआखाली से अलग था। नोआखाली में गांधी बहुत चौकत्रे और शांत थे पर यहां उन्होंने अपने कांग्रेसी साथियों को फटकार लगाई और यहां तक कह दिया, “कांग्रेसी सत्ता पाकर सुस्त हो गए हैं, उनकी अहिंसा एशोआराम में डूबी जा रही है।” जब राजेंद्र बाबू ने बापू का ध्यान इस ओर दिलाया कि मुस्लिम लीग ने अलीगढ़ से गुंडे और हथियार मंगाए हैं, जिससे कांग्रेस को शांति स्थापना में दिक्कत हो रही है, तो गांधी जी ने कहा, “सच्चे पश्चाताप में बचाव करना एकदम असंगत बात है।”

उन्होंने कांग्रेस से तुरंत गलती स्वीकारने और जांच आयोग बैठाने को कहा। जिन कांग्रेसियों ने दंगों में हिस्सा लिया था, उन्हें पुलिस के सामने आत्मसंपर्पण करने का आदेश दिया। उन्होंने शरणार्थी मुसलमानों से नोआखाली के हिंदुओं की ही तरह बहादुरीपूर्वक अपने घरों को लौट जाने को कहा। मुसलमानों से अपील की कि वे नोआखाली जाकर हिंदुओं का रक्षण करें, बिहार की रक्षा गांधी अपने प्राण देकर भी करेगा। उन्होंने मुसलमानों को राहत पहुंचाने के लिए चंदा इकट्ठा करना शुरू कर दिया। कांग्रेस के स्वयंसेवकों ने गांव-गांव जाकर पुनर्निर्माण का कार्य शुरू कर दिया। इसी बीच 20 मार्च 1947 को बिहार पुलिस ने हड़ताल कर दी। बापू ने जैसे-तैसे जयप्रकाश नारायण के सहयोग से हड़ताल समाप्त करवाई। विस्थापित कैंपों का दौरा वे लगातार कर रहे थे, इन कैंपों के लिए उन्होंने एक लिखित नियमावली भी तैयार कर दी। गैर-सरकारी संगठनों का तौर-तरीका कैसा होना चाहिए, लोकतंत्र में मंत्री का क्या दायित्व है, ये सब बातें उन्होंने कांग्रेस मंत्रिमंडल को विस्तार से समझाईं। उधर मुस्लिम लीग से बराबर अनुरोध करते रहे कि वह ‘पाकिस्तान दिवस’ मनाकर पंजाब और बंगाल को हिंसा की आग में न धकेलें। बिहार जैसे-तैसे पटरी पर आया था कि दिल्ली से सरदार पटेल की सूचना आ गई कि दिल्ली में आपकी सख्त जरूरत है।

बापू दिल्ली पहुंच गए, पर दिल्ली में ज्यादा रूक न पाए।

**कलकत्ता का चमत्कारी उपवास ( 9 अगस्त से 9 सितंबर, 1947 )**— भारत की आजादी और बंटवारे का दिन 15 अगस्त करीब आता जा रहा था। गांधी महसूस कर रहे थे कि लाल किले पर होने वाले आजादी के भव्य समारोह की बजाए नोआखाली के आम आदमी को उनकी ज्यादा जरूरत है। वे नौ अगस्त को कलकत्ता पहुंच गए। कलकत्ते के मुसलमानों ने उन्हें रोक लिया, वे नोआखाली नहीं जा सके। कलकत्ते की स्थिति बहुत गंभीर थी। वहां तो जैसे 15 अगस्त, 1946 के बाद से डायरेक्ट एक्शन कभी खत्म ही नहीं हुआ। कलकत्ते की गलियों और घरों में हिंदू-मुसलमानों ने सशस्त्र मोर्चे संभाल रखे थे। गांधी जी ने कलकत्ता की गलियों का दौरा शुरू कर दिया। बंगाल के पूर्व मुख्यमंत्री सोहरावर्दी अब तक मुस्लिम लीग की राजनीति से दूध की मक्खी की तरह निकाल फेंके गए थे। वे भी गांधी के साथ हो लिए। दोनों हैदरमेशन की टूटी-फूटी हवेली में रहकर शांति प्रयास करते रहे। जैसे-तैसे शांति स्थापित हो गई। 15 अगस्त, 1947 को स्वाधीनता दिवस सौहार्दपूर्ण माहौल में मनाया गया। लेकिन यह शांति अस्थायी थी, ऐसा लगता है जैसे स्वाधीनता दिवस पर राष्ट्रपिता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए हिंदू और मुसलमानों ने थोड़ी गम खाली थी।

27 अगस्त तक पंजाब और सिंध से आने वाले हिंसा के समाचारों ने कलकत्ता में भी सांप्रदायिक उफान ला दिया। ऊपर से छाई हुई नकली शांति का गुब्बारा फूट गया। घटनाक्रम किसी तूफान की गति से आगे बढ़ा। 30 अगस्त को सोहरावर्दी पर कुपित भीड़ ने हैदर-मेशन वाले गांधी के निवास पर धावा बोल दिया। सोहरावर्दी तो वहां था नहीं, सो एक गुस्साए युवक ने अपनी लाठी गांधी पर ही भांज दी। हिंदुस्तानियों के सौभाग्य से वार खाली चला गया, बापू सुरक्षित बच गए। बापू के मुंह से बेसाखा निकल गया, “यह क्या हो गया? 15 अगस्त की शाम झूठी थी।”

उनके सत्कर्मों का मूल्य समझने की ताकत हिंदू और मुसलमान दोनों खो चुके थे। अब 78 साल के बूढ़े गांधी के पास सिर्फ अपनी देह बची थी, जिसे वे दांव पर लगा सकते थे। 1 सितंबर को महात्मा ने आमरण उपवास का निर्णय कर लिया। आजाद भारत में गांधी का यह पहला उपवास था। माउंटबेल के प्रेस सलाहकार एलन कैम्पबेल जॉनसन ने इस उपवास के बारे में लिखा, “गांधी के उपवास में लोगों के अंतर्मन को झकझोर देने की कैसी अद्भुत शक्ति है, इसे तो सिर्फ ‘गांधी उपवास का साक्षी ही समझ सकता है।’” उपवास का चमत्कारी प्रभाव पड़ा। फारवर्ड ब्लॉक के नेता शरत बोस जो काफी दिनों से गांधी से नाराज थे, उपवास के दूसरे दिन दौड़े चले आए। हिंदू महासभा के प्रमुख डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने वादा किया कि कल से हिंदू महासभा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और मुस्लिम लीग के गार्ड शहर की गलियों में गश्त करेंगे। दोनों संप्रदायों के कट्टरपंथी गुटों ने

अपने हथियार बापू के चरणों में डाल दिए और उपवास तोड़ने की प्रार्थना की। बापू ने कहा, “परिवर्तन हो रहा है, लेकिन अभी नहीं। जीने की लालसा करना ईश्वर को द्रोह होगा। अभी और दृढ़ता से शांति का काम करो।” उपवास का तीसरा दिन था, बापू ने मुख्यमंत्री श्री प्रफुल्ल चंद्र घोष से कहा, “मेरी जान बचाने के लिए दबाव मत डालो। जब स्वेच्छा से, यथार्थ से दिल्ली में एक हो जाएगा तो ही जीना चाहूंगा, अन्यथा मृत्यु श्रेयस्कर है। बंगाल प्रचार विभाग के डायरेक्टर ने चाहा कि गांधी जी की उपवास मुद्रा का फोटो छापने से प्रचार कार्य में सहायता मिलेगी। बापू ने मना कर दिया, “लोगों की क्षणिक दया-माया के लिए मैं अपनी क्षीण मुद्रा से अपील नहीं करना चाहता हूँ।”

उपवास के चौथे दिन सोहरावर्दी, हिंदू महासभा के प्रांतपति ए.सी.चटर्जी और सरदार निरंजन सिंह तालीब ने गांधी जी को शहर में अमन-चैन बहाल होने की रिपोर्ट सौंपी और कहा कि अगर अब अशांति पैदा हुई तो वे तीन नेता स्वयं जिम्मेदार होंगे। मिशन कलकत्ता पूरा चुका था। समय भागा जा रहा था, 30 जनवरी आने में अभी पांच महीने बाकी थे। बापू अब सरहदी प्रांत पंजाब पहुंचने को व्याकुल थे।

**बदहाल दिल्ली में आखिरी उपवास ( 9 सितंबर 1947 से 30 जनवरी 1948 तक )**—9 सितंबर को बापू दिल्ली पहुंच गए। सरदार पटेल उन्हें लेने स्टेशन पर आए थे। पाकिस्तान की मक्कारियों, देशी राजाओं की तिकड़मों और दिल्ली में दिन पर दिन बढ़ती जा रही शरणार्थियों की तादाद से निबटने में सरदार अकेले पड़ गए थे। सरदार ने बापू को बताया कि दिल्ली सुलग रही है और सेना के जोर पर मरघट जैसी शांति थोपी गई है। पुरानी दिल्ली में मुसलमानों ने बेशुमार हथियार इकट्ठा कर लिए हैं, कई जगह हथियारों की फैक्ट्रियों तक पकड़ी गई हैं। लेडी हार्डिंग अस्पताल के पास सेना और कट्टरपंथियों के बीच गोलीबारी चल रही है।

गांधी समझ रहे थे कि दिल्ली की आग बुझाए बिना, भारत में कहीं भी स्थायी शांति स्थापित नहीं हो सकती। लेकिन दिल्ली की स्थिति कलकत्ता से अलग थी। उनके साथ दिल्ली की गलियों में घूमने को न तो डॉ. श्यामा प्रसाद मुखर्जी जैसे कद्दावर नेता थे जो उग्र हिंदुओं पर पकड़ रखते हों और न ही यहां के मुसलमानों पर सोहरावर्दी का कोई प्रभाव था। कांग्रेस के नेता राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय उलझनों में फंसे थे। ऊपर से लाखों की संख्या में आए शरणार्थियों ने स्थिति को और पेचीदा बना दिया था।

गांधी ने अपनी प्रार्थना सभाओं में लोगों से शांति बनाए रखने की अपील की। शरणार्थी शिविरों का दौरा शुरू किया। किंगजवे कैम्प में सिंध से आए हिंदू शरणार्थी अपने परिजनों की हत्या से दुखी थे। उन्होंने “गांधी मुर्दाबाद” के नारे लगाए। बापू ने बमुश्किल उन्हें शांत कराया और कहा कि शरणार्थी पुरुषार्थ से काम लें, रोने-धोने या क्रोध करने से मरे हुए परिजन तो वापस आ नहीं जाएंगे, उलटे उनकी शक्ति ही घिसेगी। जामा मस्जिद में कहा कि बिना हथियार डाले मुसलमान

हिंदुओं की श्रद्धा नहीं पा सकेंगे। इसी दौरान अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी से आए कुछ छात्रों ने बापू से निवेदन किया कि वे हिंदू शरणार्थियों की सेवा करना चाहते हैं। गांधी जी ने उन्हें समझाया कि यहां की सेवा दिखावटी होगी, असली सेवा तो तब होगी जब आप लोग पाकिस्तान जाकर वहां के हिंदुओं का कत्लेआम रुकवाएं। एक अन्य शरणार्थी शिविर में जब एक सिख ने अपनी बहू-बेटियों पर हुए नृशंस अत्याचारों की व्यथा सुनाई तो गांधी ने कहा कि तुम्हारी मर्दानगी पर धिक्कार है, तुम्हें अपनी स्त्रियों को बचाते हुए मर जाना चाहिए था।

14 सितंबर को दिल्ली में भारी बारिश हुई। थोड़ी ही दिनों में सर्दियां आने वाली थी। गांधी शरणार्थियों को समझाने लगे कि उन्हें सरकार का मोहताज नहीं रहना चाहिए। वे उन्हें ठंड से बचने के नुस्खे भी बताते चलते कि कैसे कंबल के ऊपर अखबार रख लेने से ठंड और ओस से बचा जा सकता है आदि। 15-20 दिन के प्रयासों से ऊपरी शांति स्थापित होने लगी परंतु दिलों के फफोले तो अब भी जल रहे थे। भारत और पाकिस्तान के बीच 55 करोड़ रु. देने का विवाद उलझता जा रहा था। जनवरी के महीने में पाकिस्तान के गुजरात शहर के रेलवे स्टेशन पर फ्रंटियर मेल से आने वाले हिंदू सिख शरणार्थियों को गाजर-मूली की तरह काट डाला गया। पाकिस्तान की ये घटनाएं कलकत्ता और दिल्ली को कभी भी जला सकती थी।

चारों तरफ फैल रही हिंसा की लपटों ने सत्य और अहिंसा के साधक गांधी को हिलाकर रख दिया। कोई नया आंदोलन वे छेड़ नहीं सकते थे, आखिर अपने ही लोगों की सरकार के खिलाफ कोई आंदोलन करे भी तो कैसे? उनकी 125 वर्ष तक जीने की अभिलाषा समाप्त हो चुकी थी। अपनी अंतरात्मा की पुकार पर 12 जनवरी, 1948 को महात्मा गांधी ने अंतिम आमरण उपवास की घोषणा कर दी। बापू ने कहा कि इस उपवास का अंत तभी होगा, “जब मैं संतुष्ट हो जाऊंगा कि सभी संप्रदायों के दिल अपने कर्तव्य बोध की भावना से और बिना किसी बाहरी दबाव के फिर से एक हो गए हैं। ईश्वर को अपना सर्वोच्च संचालक और साक्षी मानते हुए, मैंने महसूस किया कि अवश्य ही, मुझे यह निर्णय, बिना किसी से परामर्श लिए करना है।” महात्मा गांधी का यह उपवास आजाद भारत की सबसे बड़ी घटना है। इस उपवास का प्रत्येक दिन अपने आप में युगांतकारी था। कुल छह दिन चले इस उपवास ने ही वास्तव में आज के अखंड और मजबूत भारत की नींव डाली थी।

उपवास का पहला दिन हिंदू शरणार्थी गांधी जी के इस निर्णय से कुपित हो उठे। बिड़ला हाउस के बाहर उन्मादी भीड़ ने नारे लगाए—“खून का बदला खून से”, “गांधी को मर जाने दो।” दरअसल सिख इस उपवास को मुस्लिम तुष्टीकरण का औजार मान रहे थे।

उपवास का दूसरा दिन महात्मा जी ने अपनी प्रार्थना सभा में पाकिस्तानियों के लिए संदेश दिया, “अगर हिंदुओं का नरसंहार न रुका तो दस गांधी मिलकर भी मुसलमानों को बचा नहीं पाएंगे।”

उपवास का तीसरा दिन भारत सरकार ने पाकिस्तान को 55 करोड़ रु. देने का निर्णय किया। शरणार्थियों के कई समूहों ने आकर बापू से व्रत भंग करने की प्रार्थना की। गांधी जी की हालत बिगड़ती जा रही थी। नेहरू जी ने लाखों की जनसभा में कहा, “बापू मरे तो देश की आत्मा मर जाएगी।”

उपवास का चौथा दिन (16 जनवरी)–मंत्रियों ने अपने बंगले शरणार्थियों के रहने के लिए खोल दिए। दिल्ली शहर की स्थिति में उल्लेखनीय सुधार होने लगा। गांधी की हालत बहुत खराब हो गई, पेशाब के साथ एसीटोन आने लगा।

उपवास का पांचवां दिन (17 जनवरी)–सभी मजहबों के लोगों ने स्वेच्छा से राष्ट्रपिता के सम्मान में दिल्ली की सभी दुकानें बाजार और उद्योग धंधे बंद रखे।

उपवास का छठवां और अंतिम दिन (18 जनवरी)–दिल्ली शहर के सभी रेस्तरां, ढाबों और होटलों के कर्मचारियों ने भोजन परोसने से मना कर दिया। जब तक उनके बापू खाना नहीं खाएंगे, वे लोग किसी और को भी नहीं खिलाएंगे। सभी शरणार्थी शिविरों से शांति स्थापना के लिखित संदेश महात्मा गांधी के पास पहुंचे। इन संदेशों का सार था—“अब दंगे नहीं होंगे और न ही अव्यवस्था होगी।”

बापू को लगा कि लोगों के भीतर का पिशाच मर रहा है और कर्तव्यबोध अंगड़ाई लेने लगा है। उपवास अब तोड़ा जा सकता था। बापू ने कहा, “अगर दिल्ली संभल जाएगी तो पाकिस्तान की स्थिति भी संभल जाएगी। अगर यह आश्वासन, वादे टूटे तो दूसरा उपवास अनिवार्य हो जाएगा।” अंत में उन्होंने कहा, “अगर अब दिल्ली संभल जाए तो मैं पाकिस्तान जाना चाहूंगा।”

इस महान उपवास ने लाखों जान बचा लीं। भारत को अराजकता की आंधी से निकालकर सृजन और विकास की बयार के सुपर्द कर दिया। करोड़ों लोग संतुष्ट हुए तो कुछ खफा भी हो गए। जिस उपवास का अर्थ संपूर्ण शांति की स्थापना था उसका अर्थ कुछ लोगों ने मुस्लिमपरस्ती लगा लिया। यद्यपि, पाकिस्तान को रु. देने के निर्णय के बाद भी उपवास जारी रहा तब भी कई लोगों ने यही माना कि पाकिस्तान को धन दिलवाना ही उपवास का ध्येय था। धर्मांध लोगों का कोई धर्म नहीं होता। महात्मा गांधी की अच्छाई ही उनके लिए सबसे बड़ी बुराई साबित हुई। 30 जनवरी, 1948 को महामानव की हत्या कर दी गई। 31 जनवरी, 1948 को “हिंदुस्तान स्टैंडर्ड” समाचार पत्र का मुख्य पृष्ठ कोरा पड़ा था और उस पर सिर्फ इतना लिखा था, “गांधी जी अपने ही लोगों द्वारा मार दिए गए, जिनकी मुक्ति के लिए जीये। विश्व इतिहास का यह दूसरा *Crucifixion* (सूली पर चढ़ाया जाना) भी एक शुक्रवार को किया गया—ठीक वही दिन जब आज से एक हजार नौ सौ पंद्रह साल पहले ईसा मसीह को मारा गया था। परमपिता, हमें माफ कर दो।”

साभार : [mediavigil.com](http://mediavigil.com)

## ४ • समरथ

जनवरी-मार्च, 2020



# लोग या तो डर के वोट दे रहे हैं या गुस्से में दोनों के लिए फ़साद की ज़रूरत है

■ मशहूर साहित्यकार राही मासूम रज़ा के एक लेख का अंश



अभी कुछ दिनों के लिए अमरीका जाना पड़ा। पतझड़ का मौसम था। अमरीकी राष्ट्रपति (रोनाल्ड) रीगन का पतझड़ भी मेरे ही सामने शुरू हो गया था। साहब ये अमरीकी राजनीति भी ग़ज़ब की चीज़ है। यह डॉलर के सिवा किसी की भी वफ़ादार नहीं... डॉलर की सभ्यता ये है कि राजनीति देश के लिए नहीं है, देश राजनीति के लिए है और राजनीति उस 'व्यक्ति' ('व्यक्ति' अब्राहम लिंकन के कथन 'लोकतंत्र जनता के द्वारा, जनता का और जनता के लिए') के लिए है जिसकी स्वतंत्रता का ढिंढोरा डॉलर सरकार पीटती रहती है...

हमारा रुपया सींकिया पहलवान है। डॉलर की तरह मुंहजोरी तो नहीं कर सकता...परंतु जीवित है और डॉलर के कदम चूमकर आत्महत्या करने को तैयार नहीं। इसलिए ये अंतर्राष्ट्रीय

मैदान में डॉलर का विरोध करता है और दुनिया के सारे कमज़ोर देशों का साथ देता है। पर देश के अन्दर डॉलर-डॉलर खेल रहा है। जो आतंकवाद उसके दुश्मन का दुश्मन है, वह आतंकवाद नहीं, जैसे गोरखालैंड की मांग करने वाले। दिल्ली की सरकार उनके खिलाफ़ नहीं क्योंकि वे बंगाल सरकार का तख़्ता पलटने की कोशिश में दिल्ली सरकार के

काम आ सकते हैं। यह मत कहिये कि भारत एक लोकतंत्र है और यहां ऐसा नहीं हो सकता। केरल में नम्बूदरी सरकार कैसे उलटी थी? कश्मीर में अब्दुल्लाह की सरकार कैसे उलटी थी? भारतीय लोकतंत्र इस खेल का उस्ताद है। लोकतंत्र का मतलब ये थोड़े ही है कि यहां सचमुच का लोकतंत्र है।

हमारे संविधान में तो और भी बहुत सारी खूबसूरत बातें लिखीं हुई हैं। उसमें लिखा हुआ है कि भारत एक सेक्युलर डेमोक्रेसी है। लेकिन यहां न तो सेक्युलर ही है और न ही डेमोक्रेसी। यहां शिवसेना नेता सर्वश्री बाल ठाकरे शिवाजी पार्क में माइक्रोफोन लगाकर भारतीय मुसलमानों को विदेशी बताते हैं। और उन्हें सीधा करने की बात करते हैं। और मुख्यमंत्री

**...अपने घर (हिंदुस्तान) में यह कहना चाहता हूं कि घर की याद को ताज़ा रखिये। भाषा भी ठीक, धर्म भी ठीक, पर यह भी सोचिये कि देश भी ठीक है या नहीं। ज़रा सी बात पर धर्म का यूँ सड़क पर निकल आना, धर्म और देश दोनों की सेहत के लिए ठीक नहीं है।**

(एसबी चव्हाण) यह बयान देकर चुप हो जाते हैं कि मैं उन्हें ऐसा कहने पर नहीं छोड़ूंगा। ग़ालिब का कोई माशूक अवश्य ही श्री चव्हाण जैसा रहा होगा; जब ही तो उन्होंने लिखा है :

*तेरे वादे पे जिए हम, तो ये जान झूठ जाना  
कि खुशी से मर न जाते, अगर एतबार होता।  
और भारतीय राजनीति की सबसे मजेदार*

बात यहां 8 दिसम्बर (1985) को समाचार पत्रों में छपी। म्युनिसिपल बाई इलेक्शन में एक शिव सैनिक भारतीय जनता पार्टी के आदमी को हराकर चुनाव जीत गया तो उसने यह बयान दिया कि उसकी जीत हिंदूइस्म की जीत है। यह तो रोमनों से भी ज्यादा रोमन होने की बात हो गई। जहां दो ईंटों के बीच ज़रा से भी जगह नहीं हैं, वहां भी मज़हब का भूत धुआं बनकर घुसने की कोशिश कर रहा है और दुर्भाग्य से सफल भी हो रहा है।

हर धर्म कभी न कभी मनुष्य को रास्ता दिखाने आया था। पर आज हर धर्म अपने मानने वालों को कुछ लोगों के फायदे के लिए राह से भटकाने का काम रहा है। लोग वोटों के दरबे (दड़बे) पर धर्म का ताला लगाना चाहते हैं कि बस चुनाव के दिन वोट दरबे से निकाले जाएं, वोट दें और फिर 5 बरस के लिए बंद कर दिए जाएं।

यदि आज 80 फीसदी हिंदुओं को यह समझाने का काम किया जा रहा है कि उनका धर्म खतरे में है, तब तो फिर 12 फीसदी मुसलमानों और ढाई प्रतिशत सिखों को यह समझाना बहुत ही आसान है।

इस बात पर याद आया कि 8 दिसम्बर को एक सभा बुलाई गई थी। डॉ. भ. दी. फड़के ने मराठी में किताब लिखी है—'स्वातंत्र्य आंदोलनानीत मुसलमान'। भारतीय मुसलमान के नाते मुझे बुलाया गया। जब मैं भाषण देने के लिए उठा तो पहली बार यह सोचकर दुःख हुआ कि मैं मराठी नहीं जानता। जब मैं मराठी जानता होता तब मैं खुलकर बात कर पाता। पर हम हिंदी वालों का दिल इस बात पर बहुत छोटा है। हम यह तो चाहते हैं कि हिंदी देश भर में स्वीकार ली जाए, पर हम देश की दूसरी भाषाओं की न इज़्जत करते हैं और न ही उनकी ज़रूरत समझते हैं। शायद यही कारण है कि अहिंदी भाषियों के लिए हिंदी को स्वीकार करना मुश्किल हो रहा है।

डॉ. फड़के ने किताब में साबित कर दिया है कि मुसलमानों ने स्वतंत्रता आंदोलन में बड़े काम किये हैं पर मुझे इन मौकों (बुलाये जाने) पर हमेशा लगता है कि मुल्जिमों के कटघरे में खड़ा हूँ और मेरी सफ़ाई का गवाह अपना बयान दे रहा है। मुझे ऐसे में बड़ा अपमान महसूस होता है। इसलिए मैंने उस सभा में कहा कि मुसलमानों ने स्वतंत्रता आंदोलन में कुछ नहीं किया, पर हिन्दुओं ने भी कुछ नहीं किया और अगर कुछ किया हो तो बताइए। सिखों और ईसाइयों का भी योगदान नहीं है।

स्वतंत्रता आंदोलन में तो हिस्सा लिया था किसानों-

मज़दूरों ने; विद्यार्थियों और अध्यापकों ने; क्लर्कों और दुकानदारों ने। रामप्रसाद बिस्मिल हिंदू नहीं, हिंदुस्तानी क्रान्तिकारी थे, भगत सिंह सिख नहीं थे, भारतीय इन्कलाबी थे। धर्म तो स्वतंत्रता के रास्ते का रोड़ा था, जैसे आज प्रगति के रास्ते का रोड़ा है... वह कहीं सर्वश्री बाल ठाकरे को नेता बना देता है, कहीं मौलाना बुखारी को। इनके हाथों से धर्म छीन लीजिये तो इन फुकनों की हवा निकल जायेगी।

पंजाब में संत भिंडरावाले उभरे तो कांग्रेस के भीतरी झगड़े की वजह से। इसी तरह श्री ठाकरे बम्बई में श्रीपद अमृत डांगे को हराकर मज़दूरों को कम्युनिस्टों के असर से निकालना चाहते थे। डांगे आखिरकार हार गए ...शिवसेना के हाथ में धर्म और क्षेत्र दोनों की लाठी है और कांग्रेस या किसी और पार्टी के पास इस दोहरे जादू की कोई काट नहीं है।

यह बात सही नहीं है कि 15 अगस्त सन 47 को देश का विभाजन हो गया था। सही बात ये है कि 15 अगस्त सन 47 को देश का विभाजन शुरू हुआ था और विभाजन का काम खत्म नहीं हुआ है, जारी है। मुझे तो उत्तर प्रदेश और बिहार भी थोड़े ही दिनों के मेहमान दिखाई देते हैं। इन दोनों का भी बंटवारा होने वाला है क्योंकि दाल बांटने के लिए जूतियां कम पड़ रही हैं

...अपने घर (हिंदुस्तान) में यह कहना चाहता हूँ कि घर की याद को ताज़ा रखिये। भाषा भी ठीक, धर्म भी ठीक, पर यह भी सोचिये कि देश भी ठीक है या नहीं। ज़रा सी बात पर धर्म का यूँ सड़क पर निकल आना, धर्म और देश दोनों की सेहत के लिए ठीक नहीं है।

कल किसी ने शिवाजी की तस्वीर को जूते का हार पहना दिया, तो सज़ा मिली सैकड़ों बेगुनाहों को, जो क़त्ल कर दिए गए। तो सज़ा मिली सैकड़ों दुकानों को जो लूट ली गई, सज़ा मिली सैकड़ों घरों को जो जला दिए गए।

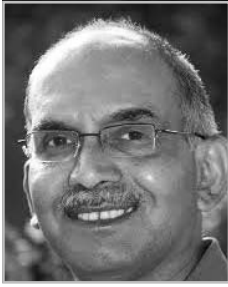
आज किसी समाचार पक्ष में इस्लाम के पैगम्बर के ख़िलाफ़ कुछ अंट-शंट लिख दिया तो सज़ा मिली बाज़ारों को, सज़ा मिली सरकारी बसों को। सीधी बात ये थी कि उस समाचार पत्र पर मुकद्दमा चलाया जाता। उस कहानी के लेखक को सज़ा दिलवाने की कोशिश की गई होती, क्योंकि पैगंबर का अपमान बसों और दुकानों ने तो नहीं किया था।

मगर कुर्सियों के आसमान से नीचे उतर कर कोई सोचने को तैयार नहीं है...ये झगड़े वोट बैंक के दरवाज़े हैं, लोग या तो डर के वोट दे रहे हैं, या गुस्से में। और डर और गुस्से के लिए किसी न किसी फ़साद की ज़रूरत पड़ती है।

(यह लेख 1985 में 'अभिनव कदम' पत्रिका में छपा था)

# घोर अज्ञान के बीच लटकती नागरिकता

■ राजेंद्र धोड़पकर



मुझे पिछले कुछ दिनों से सर सिरील रेडक्लिफ याद आ रहे हैं। श्रीकांत वर्मा की एक कविता की पंक्ति है, 'मैं कहना कुछ चाहता हूँ, कह कुछ और जाता हूँ।' वैसे ही मैं कुछ भी लिखना चाहता हूँ तो सर रेडक्लिफ के बारे में लिखने लगता हूँ। कुछ पढ़ना चाहता हूँ तो सर रेडक्लिफ के बारे में पढ़ने लगता हूँ। मुझे लगता नहीं था जीवन के इस दौर में सर सिरील रेडक्लिफ मेरे लिए इतने महत्वपूर्ण हो जाएंगे।

सर सिरील रेडक्लिफ ने भारत और पाकिस्तान के बीच विभाजन की लकीर खींची थी। यानी हमारे देश के कथित देशभक्त, कथित घुसपैठियों को जिन सीमाओं के पार भेजने की बात करते हैं, वे सीमाएं सर सिरील रेडक्लिफ ने ही खींची थीं। गिरिराज सिंह को शायद यह मालूम नहीं होगा कि वे लोगों को बार-बार जिस पाकिस्तान भेजने की बात करते हैं, उसका नक्शा सर रेडक्लिफ ने ही बनाया था। सर सिरील रेडक्लिफ को यह अंदाजा भी नहीं होगा कि तिहत्तर साल बाद उनकी खींची गई लाइनें हजारों लोगों के सामने अस्तित्व का संकट पैदा करेंगी- 'मैं कौन हूँ?', 'मेरा देश कौन-सा है?', 'मेरे जीवन का उद्देश्य क्या भाजपा के लिए वोटों का जुगाड़ करना है?', 'क्या मैं देशभक्त हूँ?', 'अगर हूँ तो क्यों हूँ और नहीं हूँ तो क्यों नहीं हूँ?', 'क्या मैं साबित कर सकता हूँ कि मैं भारतीय हूँ?', 'क्या मेरा आधार कार्ड असली है या भ्रम है?', 'मेरे आधार कार्ड का आधार क्या है?', 'मेरे वोटर कार्ड का मतलब क्या है?', 'मेरे वोट का मतलब क्या है?', 'मेरे पासपोर्ट का अर्थ क्या है?', 'क्या यह इसलिए बनाया गया है ताकि गिरिराज सिंह मुझे पाकिस्तान भेज सकें?', 'क्या पाकिस्तान गिरिराज सिंह या अनंत हेगड़े के कहने से मुझे अपने यहां आने देगा?', 'क्या पाकिस्तान मेरे पासपोर्ट के आधार पर

मुझे भारतीय मान लेगा?', 'जब भारत सरकार कह रही है कि पासपोर्ट नागरिकता का प्रमाण नहीं है, तो क्या दूसरे देशों की सरकारें मेरे पासपोर्ट के आधार पर मुझे भारतीय मान लेंगी?', 'अगर मैं भारतीय नहीं हूँ तो क्या हूँ?', 'और अगर नहीं हूँ तो मैं क्या करूँ?' फिर मुझे श्रीकांत वर्मा याद आते हैं, 'यह मेरा प्रश्न नहीं उत्तर है, मैं क्या कर सकता हूँ।'

मुझे नहीं लगता कि दुनिया के इतिहास में कभी किसी देश में तमाम नागरिकों की नागरिकता पर एक साथ ऐसा प्रश्नचिह्न लगाया गया हो, और तमाम नागरिकों के सामने यह अवास्तविक प्रश्न खड़ा हुआ हो कि उनकी पहचान क्या है। मुश्किल यह है कि इसके पीछे नागरिकों का अज्ञान नहीं, बाकी सब लोगों का अज्ञान है।

सर सिरील रेडक्लिफ को फिर से याद करने की वजह यह है कि उन्हें भारत पाकिस्तान की सीमाएं तय करने का काम इसलिए दिया गया था कि वे कभी भारत नहीं आए थे। भारत के बारे में उन्हें कुछ खास पता नहीं था और अंग्रेज सरकार को लगता था कि इस वजह से वह बिना पक्षपात तेजी से अपना काम निपटा सकेंगे। इसी वजह से उन्हें जो सहायक दिए गए थे उन्हें भी इस काम का ज्यादा ज्ञान नहीं था, क्योंकि सरकार सोचती थी कि ज्यादा जानकार लोग ज्यादा तफसील में जाएंगे और इससे देर हो जाएगी। यही कारोबार अब तक चल रहा है। इस तरह बने नक्शों से फिलहाल सबकी नागरिकता तय हो रही है। अब भी सरकार ने बिना किसी तैयारी के नागरिकता तय करने के विस्फोटक इरादे बना लिए हैं। फर्क यह है कि सिरील रेडक्लिफ खुद जानते थे कि जो काम उन्होंने किया है वह ठीक से नहीं किया और वे इससे दुखी भी रहे। हमारे हुक्मरान यह नहीं जानते।

साभार : outlookhindi



## गुजरात के 500 परिवार जो हिंदू भी हैं, मुस्लिम भी

कहानी एकदम हिंदुस्तान की तरह दिलचस्प है। कुछ सदी पहले की बात है। गुजरात के मोरबी में एक जातीय समुदाय है मोड मोदी। इसके एक परिवार में कोई औलाद नहीं थी। उनके बच्चे तो होते थे, लेकिन वे जिंदा नहीं बचते थे। यहीं पर एक पीर हुआ करते थे हजरत दवलशा पीर। परिवार ने पीर की दरगाह में बच्चे के लिए दुआ मांगी। दुआ कबूल हो गई और परिवार में 7 बच्चे हुए।

इसके पीछे मेडिकल साइंस भले तर्क दे कि बच्चे पीर की दुआ से नहीं होते, लेकिन बेऔलाद को औलाद मिल जाए, इससे बड़ा दुनिया में कौन सा चमत्कार हो सकता है? अब इस परिवार की आस्था पीर बाबा में रम गई। परिवार में हिंदू देवी देवताओं के साथ पीर बाबा भी आ गए और बाद में अल्लाह भी। हिंदू त्यौहारों के साथ रमजान और ईद भी मनाई जाने लगी।

अब यह कुनबा बढ़कर 500 परिवारों का हो चुका है। जिग्नेश मोदी इसी परिवार की अगली पुश्तों के बच्चे हैं। यह कहानी उन्होंने ही सुनाई है। जिग्नेश कहते हैं कि उनका परिवार हिंदू भी है और मुसलमान भी। यह परिवार हिंदू और मुसलमान दोनों परंपराओं को निभाता है। इस मोदी परिवार में यह प्रथा कई पीढ़ियों पहले से चली आ रही है। पीर दवलशा की दरगाह मोरबी के आमरान में है जहां ये लोग जियारत करते हैं।

जिग्नेश मोदी का परिवार इस्लाम को भी मानता है और हिंदू आस्था में भी विश्वास करता है। यह कुनबा रोजा रखता है, ईद मनाता है, दरगाह भी जाता है और हिंदू त्यौहार भी मनाता है। एक ही आंगन में ईद, होली, दीवाली, बकरीद, रमजान सब। ये लोग इस्लाम में निभाया जाने-वाला दान-पुण्य का कार्य भी करते हैं और बड़े पैमाने पर गरीबों की मदद भी करते हैं। इसी परिवार के रूपेश हैं। वे गणेश की मूर्ति रखते हैं, रोजा भी रखते हैं। उनकी पत्नी एक डेरावासी जैन हैं, वे भी रोजा रखती हैं।

इस परिवार के लोगों का कहना है कि हमारे लिए दोनों धर्म एक समान हैं। हमारी परंपरा दोनों धर्मों को मिलाकर बनी है। हम दोनों का आस्थाओं का बराबर सम्मान करते हैं।

एक और दिलचस्प बात कि इस परिवार की कुल देवी बहूचर माता हैं। कहने को यह परिवार हिंदू है, लेकिन शादियां दोनों धर्मों की परंपराओं के मुताबिक होती हैं। किसी बच्चे की शादी हो तो पहले दिन हिंदू रीति-रिवाज निभाया जाता है और दूसरे दिन मुस्लिम रिवाज। इसके साथ पीर की दरगाह पर जाकर दुआ भी मांगी जाती है। हजरत दवलशा पीर के बारे में कहा जाता है कि गुजरात में 15वीं सदी में एक सुल्तान हुए महमूद बेगडा। उनके समय से ही हजरत दवलशा के बारे में जाना जाता है।

जो लोग देश को बांटने की कोशिश कर रहे हैं, वे गुजरात के इन परिवारों को कैसे बांटेंगे जो न तो हिंदू हैं, न ही मुस्लिम हैं। लेकिन वे हिंदू भी हैं और मुस्लिम भी। भारत की जिस गंगा-जमुनी तहजीब को दुनिया मानती है, यह उसकी छोटी सी बानगी है। तक्षशिला को बिहार में रखने वाले ज्ञानी अपने प्रदेश के बारे में भी कुछ नहीं जानते, न ही देश के बारे में।



## बाबा तिलकामांझी को हुल जोहार

■ विलक्षण रविदास

बाबा का जन्म 11 फरवरी 1750 ई में मूलनिवासी संधाल जनजाति में राजमहल के गांव में हुआ था। उनके पिता सुन्दर मांझी एवं माता सोमी थे। उन्होंने मात्र 29 वर्ष की आयु में 1779 में अंग्रेज ईस्ट इंडिया कम्पनी की 10 वर्षीय कृषि ठेकेदारी की आर्थिक लूट की व्यवस्था लागू करने, फूट डालो राज करो की नीतियों, आदिवासियों एवं किसानों का किए जा रहे सूदखोरी-महाजनी शोषण और पहाड़िया एवं संधाल जनजातियों के विद्रोहों-आन्दोलनों को कुचलने की दमनकारी नीतियों और कार्यों के खिलाफ मूलनिवासी किसानों को संगठित कर हुल विद्रोह का बिगुल बजा दिया था। वे संगठित जनविद्रोह का पहले बागी थे।

उनके द्वारा साल के पेड़ के छाल में गांठ बांध कर सभी संधाल एवं पहाड़िया के गांवों में भेजा गया और विद्रोह करने का निमंत्रण दिया गया था। उनके नेतृत्व में आदिवासियों और किसानों में एकता बनी और संघर्षों का दौर शुरू हुआ था।

1779 ई में ही भागलपुर के प्रथम कलक्टर क्लीवलैंड नियुक्त हुए थे। उनके द्वारा जनजातियों में फूट डालने की नीति के तहत सैनिक बल तिलकामांझी के जनजाति एवं किसान विद्रोह को कुचलने और दमन करने के लिए लगातार लड़ाई कर रहे थे। तीतापानी के समीप 1782 और 1783 में हुए दो युद्धों में अंग्रेजी सेना की बुरी तरह पराजय हुई।

उस पराजय के बाद कलक्टर क्लीवलैंड के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना के साथ 1783 के 30 नवम्बर को पुनः उसी स्थान पर तिलकामांझी के साथ भीषण युद्ध हुआ। इस युद्ध में क्लीवलैंड विषाक्त तीर और गुल्ले के पत्थर से बुरी तरह घायल हो गए। जिसके बाद इंग्लैंड वापिस लौटते वक्त उनकी मृत्यु हो गई।

उसके बाद सी कैपमैन भागलपुर के कलक्टर नियुक्त हुए, जिन्होंने तिलकामांझी की सेना और

जनजाति समाज के विरुद्ध भागलपुर राजमहल के पूरे क्षेत्र में पुलिस आतंक का राज बना दिया। दर्जनों गांवों में आग लगा दी गई, सैकड़ों निर्दोष आदिवासियों को मौत के घाट उतार दिए गए और पागलों की तरह अंग्रेजी सेना तिलकामांझी की तलाश करने लगी। तिलकामांझी राजमहल क्षेत्र से निकल कर भागलपुर क्षेत्र में आ गये और अब छपा मारकर युद्ध करने लगे।

**शहादत को सलाम**—सुल्तानगंज के समीप के जंगल में 13 जनवरी, 1785 ई में हुए युद्ध में तिलकामांझी घायल हो गए और उन्हें पकड़ कर भागलपुर लाया गया। यहां कानून और न्याय के तथाकथित सभ्य अंग्रेजी अफसरों ने घोड़े के पैरों में लम्बी रस्सी से बांधकर सड़कों पर घसीटते हुए उन्हें अधमरा कर तिलकामांझी चौक पर स्थित बरगद पेड़ पर टांग दिया और मौत की सजा दी।

अंग्रेजों ने उन्हें आतंकवादी और राजद्रोही माना, किन्तु भागलपुर राजमहल क्षेत्र सहित बिहार के लोगों ने उन्हें महान क्रान्तिकारी योद्धा और शहीद मानकर श्रद्धांजलि अर्पित की। उनके सम्मान में शहादत स्थान का नाम तिलकामांझी चौक रखा गया। उनके नाम पर तिलकामांझी हाट लगाया गया, जहां से वे पकड़े गए थे उस स्थान को तिलकपुर गांव और फिर भागलपुर विश्वविद्यालय तिलकामांझी विश्वविद्यालय बना।

किन्तु यह काफी दुखद है कि बिहार और भारत के कुछ इतिहासकारों ने उन्हें ऐतिहासिक पुरुष नहीं मानते हुए इतिहास के पन्नों में ही जगह देने से इंकार किया कर दिया।

अपने प्रथम स्वतंत्रता सेनानी और महानायक अमर शहीद तिलकामांझी की 270 वीं जयंती के शुभ अवसर पर उन्हें हार्दिक श्रद्धांजलि और शत शत नमन।

साभार : mehnatkash.in



# लिसिप्रिया कंगुजम

## आठ साल की जलवायु परिवर्तन कार्यकर्ता

सुरक्षित पर्यावरण के लिए काम करने वाली बाल कार्यकर्ता कार्बन उत्सर्जन और ग्रीन हाउस गैसों को कम करने वाले कानूनों की मांग करती रही हैं। उन्हें भारत की ग्रेटा थनबर्ग भी कहा जाता है। साल 2019 में उन्हें जैकट एपीजे अब्दुल कलाम चिल्ड्रेन अवॉर्ड, विश्व बाल शांति पुरस्कार और भारत शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया था

प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी ने अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस पर सात महिलाओं को अपने सभी सोशल मीडिया अकाउंट सौंपने की बात कही थी, जिनमें से एक मणिपुर की आठ साल की जलवायु परिवर्तन कार्यकर्ता लिसिप्रिया कंगुजम भी हैं। हालांकि लिसिप्रिया कंगुजम ने प्रधानमंत्री मोदी के इस सम्मान को स्वीकार करने से इनकार कर दिया है। वह जलवायु परिवर्तन पर अपनी मांग को अनसुना किए जाने से नाराज हैं।

भारत सरकार के ट्विटर हैंडल पर कुछ प्रेरणादायक महिलाओं की कहानियों को साझा किया गया था। इन्हीं में आठ साल की जलवायु परिवर्तन कार्यकर्ता लिसिप्रिया कंगुजम की कहानी को भी भारत सरकार ने अपने ट्विटर हैंडल पर शेयर किया था। कंगुजम ने इस सम्मान के लिए सरकार का आभार

जताया लेकिन साथ में यह भी कहा कि वह इससे खुश नहीं हैं।

लिसिप्रिया कंगुजम ने ट्वीट करते हुए कहा, “सरकार मेरी बात सुनती नहीं है और आज उन्होंने मुझे प्रेरणादायक महिलाओं की श्रेणी में शामिल किया है लेकिन क्या यह वाकई सही है?”

वहीं एक अन्य ट्वीट में कंगुजम ने कहा, “प्रिय नरेंद्र मोदी जी, अगर आप मेरी आवाज नहीं सुनेंगे तो कृपया आप मुझे सेलिब्रेट मत कीजिए। अपनी पहल #SheInspireUS में मुझे अन्य प्रेरणादायक महिलाओं के साथ शामिल करने के लिए आपका शुक्रिया लेकिन काफी बार सोचने के बाद मैंने इस सम्मान को अस्वीकार करने का फैसला किया है। जय हिंद।”





## तवायफ़ :

### स्वतंत्रता संग्राम की गुमनाम नायिकाएं

इनके कई नाम हैं - उत्तर में तवायफ़, दक्षिण में देवदासी, गोवा में नायिका, बंगाल में बाजी, ब्रिटिश के लिए नौच गर्ल्स फ़िट भी ये सारे नाम अश्लीलता का पर्याय हैं। लेकिन, वे सभी एक मजबूत व स्वतंत्र महिलाएं थीं। जिनकी हिस्सेदारी के बारे में सैकड़ों कहानियां हैं पर उनमें से अधिकतर का रिकॉर्ड नहीं रखा गया। लखनऊ में आंदोलन के वक्त इनकी भूमिका को 'गुप्त' व 'उदार कोषाध्यक्ष' के रूप में देखा जाता है।

एक सदी से भी पुरानी बात है जब भारत ने अपनी एकजुटता दिखाकर खुद को गुलामी की जंजीरों से आजाद किया था। भारत ने अपने स्वतंत्रता की पहली लड़ाई साल 1857 में लड़ी थी, जिसकी गूँज दशकों तक दबाई नहीं जा सकी और जिस कारण आजादी के सपने को सच्चाई में बदल पाना संभव हो पाया। हम उस आंदोलन से तो भली-भांति परिचित हैं, जिसकी शुरुआत सिपाहियों की एक टुकड़ी द्वारा की गयी थी और जो फैलती हुई देश के अधिकांश हिस्सों में पहुँच गयी। पर हम इस कहानी के जिस पहलू को नहीं जानते वो उन लोगों की है, जिन्होंने इस आन्दोलन को संभव बनाया।

ये एक ऐसी लड़ाई थी जिसे मंच पर खड़े कुछ नेता अपने दम पर नहीं लड़ सकते थे। बल्कि, यह लड़ाई सही मायने में उन अनगिनत लोगों ने लड़ी जिन्होंने अपने स्वार्थ से ऊपर अपने देश को रखा। इन लोगों की कहानियाँ या तो भूली जा चुकी हैं, या तो इतिहास के पन्नों में धूमिल हो रही हैं और कुछ की तो मिट भी गयी है।

उस समय देश के लिए किया गया तवायफ़ों का योगदान भी कुछ ऐसा ही है। ये ऐसी बहादुर स्वतंत्रता सेनानी थीं जिनके आत्म-बलिदान की कहानियों का शायद ही कहीं जिक्र मिले। इनमें से एक हैं अजीजुंबाई जिनकी कहानी आज भी प्रेरणा देती है।

#### कानपुर की घेराबंदी

भारतीय सैनिक ब्रिटिश अफसरों के विरुद्ध

खड़े हो गए थे। हर तरफ तनाव का माहौल था। इसी समय जून 1857 में एक घटना हुई। भारतीय सैनिक जब कानपुर की घेराबंदी कर रहे थे उसी वक्त ब्रिटिश अफसरों ने उन्हें घेर लिया। उस समय इन सैनिकों के साथ एक तवायफ़ भी थी जो इनसे कंधे से कंधा मिला कर लड़ रही थी। यह तवायफ़ थी अजीजुंबाई जिन्हें मर्दाना कपड़ों में, पिस्तौल, मेडल से लैस घोड़े पर सवार देखा गया था।

इस दिलचस्प कहानी का किसी भी पाठ्यपुस्तक में कोई उल्लेख नहीं मिलता। हालांकि इसका जिक्र आज भी स्थानीय कहानियों, ऐतिहासिक रिपोर्ट व शोध के कागजों में मिल जाता है। जवाहरलाल विश्वविद्यालय के सेंटर फॉर वुमन्स स्टडीज़ के असोसिएट प्रोफेसर लता सिंह द्वारा लिखे गए पेपर में इसका वर्णन है। लता सिंह के अनुसार मुख्यधारा के इतिहास में इन औरतों के कार्यों को लुप्त कर दिया गया है फिर भी अजीजुंबाई का नाम कई लेखों में मिल जाता है। वीडो सावरकर, एसबी चौधरी जैसे लेखकों ने भी उनका उल्लेख किया है और साथ ही इस लड़ाई में भाग लेने के लिए प्रशंसा भी की है। ऐसा भी माना जाता है कि नाना साहिब के प्रारंभिक जीत के अवसर में जब कानपुर में झंडा फहराया जा रहा था तब वह उस रैली में मौजूद थीं। कानपुर में आज भी अजीजुंबाई का नाम लोगों के दिमाग में जीवित है।

अजीजुंबाई एक जासूस, खबरी और सेनानी

थीं। उनका जन्म लखनऊ में एक तवायफ के घर हुआ था। उसके बाद वह कानपुर के ऊमराव बेगम के लूरकी महल में चली गयीं।

लता सिंह ऐसा मानती हैं कि उनका लखनऊ के सांस्कृतिक माहौल से दूर कानपुर के छावनी में जाने का कारण स्वतंत्रता के प्रति उनका जुनून हो सकता है। इन लेखों के अनुसार अजीजुंबाई को भारतीय सैनिकों का करीबी माना गया है। खासकर उन्हें घुड़सवार सेनानी शामसुद्दीन का करीबी माना गया है जिनकी भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में अहम भूमिका रही है।

“अजीजून का घर सिपाहियों के मिलने का अड्डा भी था। उन्होंने महिलाओं का एक ऐसा समूह बनाया जो निडर हो कर साथ देने, हथियारों से लैस सिपाहियों का मनोबल बढ़ाने, उनके घाव को साफ करने और हथियारों को वितरित करने को तैयार थीं। अजीजून ने अपने मुख्यालय में एक गन बैटरी भी तैयार की थी। ये बैटरी व्हीलर प्रवेश के उत्तर में व राकेट कोर्ट और चैपल ऑफ इज के मध्य में स्थित थी। घेराबंदी के पहले दिन से ही इस बैटरी ने प्रवेशद्वार में गोले दागे व गोलीबारी की। व्हीलर एनट्रेंचमेंट की घेराबंदी के समय वह सैनिकों के साथ थीं।”

एक प्रत्यक्षदर्शी के अनुसार उन्हें हर समय पिस्तौल पकड़े हुए देखा जा सकता था। भीषण गोलीबारी के बाद भी वह अपने दोस्तों के साथ रहती थीं जो कि द्वितीय रेजीमेंट के घुड़सवार थे। वह ऐसी कई तवायफों में से एक थी जो भारत की आज़ादी के लिए पूरी बहादुरी से लड़ी, कभी पर्दे में रहकर, कभी बिना किसी पर्दे के!

अजीजुंबाई के अलावा एक और नाम भी है होससैनी, जोकि बीबीघर नरसंहार के प्रमुख साजिशकर्ताओं में से एक थी। इस नरसंहार में 100 से अधिक अंग्रेज महिलाओं व बच्चों की हत्या कर दी गयी थी।

ऐसी ही एक और तवायफ थी गौहर जान, जिसने स्वतंत्रता आंदोलन का समर्थन करने के लिए स्वराज कोश में सक्रिय रूप से राशि जमा की थी। विक्रम सम्पत द्वारा लिखी गयी पुस्तक 'माइ नेम इज़ गौहर जान' के अनुसार, गांधीजी के अनुरोध पर गौहर जान राशि एकत्रित करने के लिए एक समारोह का आयोजन करवाने को इस शर्त पर तैयार हुई थीं कि वह खुद इस समारोह में शामिल होंगे। हालांकि गांधीजी इस शर्त को मानने में असमर्थ रहे फिर भी गौहर जान ने जमा की हुई राशि का आधा भाग इस आंदोलन के लिए दान कर दिया।

यहाँ वह उन महिलाओं का जिक्र करती हैं जो अंग्रेज सैनिकों के विरुद्ध सड़कों पर उतरतीं। घूँघट की आड़ में उनमें से कई खबरियों का काम करती थीं तो कई धनराशि द्वारा इस आंदोलन को सहयोग देती थीं। अवध के आखिरी नवाब वाज़िद अली शाह की पत्नी, बेगम हज़रत महल उन्हीं में से एक थीं।

कई लेखों के अनुसार वह शादी के पहले एक तवायफ थीं लेकिन आंदोलन के दौरान उन्होंने अपने निर्वासित पति की जगह ले ली थी। उन्होंने भारतीय सेना को लखनऊ पर कब्जा करने में मदद की थी, हालांकि यह कब्जा अधिक दिन तक रह नहीं पाया।

अपनी सक्रिय भागीदारी के बदले इन तवायफों को कड़े अंजाम भुगतने पड़े। सन् 1900 आने तक इनके सामाजिक व आर्थिक जीवन ने अपनी चमक खो दी थी। पर इसके बाद भी वे रुकी नहीं। इनके योगदानों का उल्लेख यह सिद्ध करता है कि किस तरह उनके भीतर भी निःस्वार्थ देश प्रेम भरा हुआ था। असहयोग आंदोलन के दौरान (साल 1920-1922), वाराणसी में तवायफों की एक टोली ने तवायफ सभा बनाकर इस स्वतंत्रता संग्राम में हिस्सा लिया था। लता सिंह के अनुसार, हुस्ना बाई ने इस सभा का नेतृत्व किया और इसके सदस्यों से विदेशी सामानों का बहिष्कार करने का अनुरोध किया। साथ ही उन्होंने एकजुट होकर गहनों के बजाय लोहे की कड़ियाँ पहनने को कहा। इन सब के बावजूद भी दुनिया ने इन्हें और इनके योगदानों को भूल जाना ठीक समझा।

द कौर्टेसन प्रोजेक्ट द्वारा इनकी कहानियों को सामने लाने का काम करने वाली मंजरी चतुर्वेदी कहती हैं, “हमने कभी सोचा ही नहीं कि तवायफ इतनी महत्वपूर्ण भी हो सकती हैं कि उनकी कहानियों को लिखा जाए। पर ये कहानियाँ मौखिक कहानियों में प्रचलित हैं।”

इनके कई नाम हैं : उत्तर में तवायफ, दक्षिण में देवदासी, गोवा में नायिका, बंगाल में बाजी, ब्रिटिश के लिए नौच गर्ल्स फिर भी ये सारे नाम अश्लीलता का पर्याय हैं। लेकिन, वे सभी एक मजबूत व स्वतंत्र महिलाएं थीं। उनका बौद्धिक व सांस्कृतिक योगदान अपने चरम पर रहा फिर भी यह सब धूमिल होता चला गया और उनकी छवि वेश्या के रूप में ही सिमट कर रह गयी जिसे गौरवशाली इतिहास के पन्नों में जगह नहीं मिल पाई। दरअसल, इन प्रेरणादायक कहानियों को विलुप्त होने देने में हमारा ही नुकसान है।

—निधि निहार दत्ता

मूल लेख : अनन्या बरुआ /

साभार : [hindi.thebetterindia.com](http://hindi.thebetterindia.com)





## उमाबाई कुंडापुर :

### ताउम्र देश के लिए समर्पित महिला

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के ऐसे बहुत से अनसुने नायक-नायिकाएँ हैं जिन्होंने अपनी मातृभूमि के लिए जाज की बाजी लगा दी है। लेकिन आज शायद ही कोई उनके बारे में जानता हो। इतिहास की किताबों में भी इन्हें जगह नहीं मिली। देश की आजादी के बाद भी बहुत से स्वतंत्रता सेनानी नाम और शौहरत की चकाचौंध से दूर ही रहे।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के ऐसे बहुत से अनसुने नायक-नायिकाएँ हैं जिन्होंने अपनी मातृभूमि के लिए जान की बाजी लगा दी। लेकिन आज शायद ही कोई उनके बारे में जानता हो। इतिहास की किताबों में भी इन्हें जगह नहीं मिली। देश की आजादी के बाद भी बहुत से स्वतंत्रता सेनानी नाम और शौहरत की चकाचौंध से दूर ही रहे। ऐसा ही एक



नाम हैं उमाबाई कुंडापुर। एक ऐसी साहसी महिला जिसने स्वतंत्रता संग्राम के दौरान सबसे बड़े स्वयंसेवी संगठन की नींव रखी। स्वतंत्रता सेनानियों की हर संभव मदद की और जो महिलाएँ कभी चारदीवारी से बाहर नहीं निकली थीं, उन्हें भी उन्होंने आजादी की लड़ाई से जोड़ा!

उनके कार्यों से प्रभावित होकर गाँधी जी ने उन्हें कस्तूरबा ट्रस्ट की कर्नाटक शाखा का हेड नियुक्त किया। उमाबाई ने अपना सारा जीवन देश के लिए समर्पित कर दिया और जब आजादी के बाद उन्हें भारतीय राजनेताओं ने बड़े ओहदों से नवाजना चाहा तो उन्होंने कुछ भी स्वीकारने से मना कर दिया।

साल 1892 में, मैंगलोर के गोलीकेरी कृष्णा राव और जुगनाबाई के यहाँ उनका जन्म हुआ। उनके मायके का नाम भवानी था। उनका परिवार मैंगलोर से मुंबई जाकर बस गया और वहीं पर 9 वर्ष की आयु में संजीव राव कुंडापुर से उनकी शादी हुई और वह भवानी से उमाबाई कुंडापुर बन गईं।

उमाबाई का ससुराल बहुत ही समृद्ध था और उनके ससुर, आनंद राव कुंडापुर उस जमाने में भी बहुत आगे की सोच रखने वालों में से थे। वह हमेशा से ही लड़कियों और महिलाओं की शिक्षा के पक्षधर रहे और इसलिए उन्होंने उमाबाई की शिक्षा जारी रखवाई।

अपनी शिक्षा पूरी करने के बाद उन्होंने अपने ससुर के साथ

मिलकर गौंदेवी महिला समाज के ज़रिए महिला शिक्षा पर काम करना शुरू किया। साल 1920 में बाल गंगाधर तिलक की मृत्यु के उपरांत जब उनकी शवयात्रा निकली तो मानो पूरी मुंबई सड़कों पर आ गई थी। उमाबाई और उनके पति ने भी इस यात्रा में भाग लिया। तिलक तो चले गए लेकिन उस दिन युवा उमाबाई के दिल में देश-प्रेम की लौ जला गए।

उन्होंने बतौर स्वयंसेवी कार्यकर्ता कांग्रेस जॉइन कर ली। वह कांग्रेस पार्टी की सभी गतिविधियों में भाग लेतीं। उन्होंने घर-घर जाकर लोगों को खादी अपनाने के लिए जागरूक किया। उन्होंने स्वदेशी आंदोलन को जन-जन तक पहुँचाने के लिए एक नाटक भी तैयार कराया।

कहते हैं कि उमाबाई की हर एक राजनैतिक गतिविधि में उनके पति और ससुर ने बहुत साथ दिया। उन्होंने हमेशा उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रेरित किया। हालांकि, साल 1923 में जब टीबी के चलते उनके पति की मौत हो गई तब उमाबाई बहुत टूट गई थीं।

ऐसे में, उनके ससुर ने उन्हें संभाला और वह उन्हें लेकर हुबली चले गए।

हुबली में कुंडापुर परिवार की काफी जायदाद थी। यहाँ आकर उनके ससुर ने कर्नाटक प्रेस शुरू किया और बच्चियों की शिक्षा के लिए 'तिलक कन्या शाला' की स्थापना भी की। कन्या शाला की जिम्मेदारियाँ उमाबाई को दी गईं। उमाबाई ने एक और स्वतंत्रता सेनानी, कृष्णाबाई पंजीकर के साथ मिलकर महिलाओं के लिए 'भगिनी समाज' संगठन की नींव भी रखी।

हुबली आने के बाद भी उमाबाई कांग्रेस से जुड़ी रहीं और यहाँ पर उन्होंने पूरे कर्नाटक की यात्राएँ कीं ताकि ज्यादा से ज्यादा लोगों को आजादी की लड़ाई से जोड़ सकें। इस दौरान उनका संपर्क हिंदुस्तानी सेवा दल के संस्थापक डॉ. एन. एस. हार्डीकर से हुआ। सेवा दल का काम कांग्रेस पार्टी के लिए स्वयंसेवकों को ट्रेनिंग देकर तैयार करना था। इस ट्रेनिंग में उन्हें ड्रिल, सेल्फ-डिफेंस, कैंप में रहना, बुनाई और श्रमदान आदि सिखाया जाता था।

हार्डीकर, उमाबाई के जोश और आम लोगों के बीच उनकी लोकप्रियता से काफी प्रभावित हुए। उन्होंने उमाबाई को सेवा दल की महिला विंग का अध्यक्ष बना दिया। उस जमाने में महिलाओं को घर के बाहर निकलने की आजादी तक नहीं होती थी, फिर बाहर जाकर सेल्फ-डिफेंस ट्रेनिंग तो भूल ही जाइए।

सेवा दल से महिलाओं को जोड़ना बहुत ही चुनौतीपूर्ण काम था, लेकिन उमाबाई हार मानने वालों में से नहीं थीं। उन्होंने महिलाओं के दिल में आजादी की ज्योत जलाने के लिए नुक्कड़ नाटकों का सहारा लिया। वह घर-घर जाकर महिलाओं को प्रेरित करती थीं और उन्हें अपनी और अपने देश की आजादी के लिए जागरूक करती थीं। उमाबाई की मेहनत रंग लाई और महिलाओं ने अपने घर की दहलीज लांघना शुरू किया। बेलगाम में महात्मा गाँधी की अध्यक्षता में हुई कांग्रेस कॉन्फ्रेंस में हजारों महिलाओं ने भाग लिया। यह अपने आप में एक ऐतिहासिक दिन था क्योंकि इन महिलाओं में बच्चियों से लेकर विधवाओं तक, हर तबके की महिलाएँ थीं।

चौपाटी पर नमक बनाने के आंदोलन में सबसे आगे रहने वाली कमलादेवी चट्टोपाध्याय को भी उमाबाई से ही प्रेरणा मिली थी। उन्होंने एक बार कहा भी कि वे उमाबाई के विनम्र स्वभाव और लोहे की तरह ठोस इरादों से प्रभावित होकर ही स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ीं।

पूरे नमक सत्याग्रह में उमाबाई एक ठोस ताकत की तरह डटी रहीं और इस वजह से साल 1932 में ब्रिटिश पुलिस ने उन्हें गिरफ्तार कर लिया। येरवडा जेल में उन्होंने 4 महीने की सजा काटी। इस दौरान ब्रिटिश सरकार ने उनके ससुर की प्रेस और स्कूल

को भी बंद करा दिया। जब अपनी सजा काटकर उमाबाई बाहर आई तो उन्हें अपने ससुर की मौत के बारे में पता चला।

यह उनके लिए कोई छोटा सदमा नहीं था क्योंकि बचपन से उनके ससुर ने ही हर कदम पर उनका साथ दिया था। चाहे उनकी शिक्षा हो या फिर राजनैतिक जीवन, उनके ससुर उनके साथ खड़े रहे। अपने ससुर की याद में उन्होंने अपनी आने वाली जिंदगी को उनके दिखाए गए पथ पर ले जाने का निर्णय लिया।

नमक सत्याग्रह के दौरान बहुत से लोगों को ब्रिटिश सरकार ने बंदी बनाया था और जब ये लोग जेल से बाहर आए तो बेघर और बेसहारा हो गए। बहुतों के पास अपने घर तक जाने के लिए पैसे नहीं थे तो बहुत से लोगों को उनके परिवारों ने बेदखल कर दिया था। इन सभी लोगों के लिए उमाबाई ने अपने घर के दरवाजे खोल दिए।

वह इन स्वतंत्रता सेनानियों को खाना खिलातीं, रहने के लिए उनके सिर पर छत देतीं और जो लोग अपने घर जाना चाहते थे उन्हें पैसे आदि देकर विदा करतीं। उमाबाई का घर देश के हर स्वतंत्रता सेनानी के लिए आसरा बना हुआ था।

इसके बाद साल 1934 में जब बिहार में भूकंप आया तब भी उमाबाई अपने स्वयंसेवकों के साथ वहाँ लोगों की मदद करने के लिए पहुंची। दिन-रात जागकर उन्होंने घायल और बेसहारा लोगों की मदद की। यहीं पर उनकी मुलाकात राजेंद्र प्रसाद और आचार्य कृपलानी जैसे बड़े नेताओं से हुई।

साल 1942 में बीमारी के चलते वह भारत छोड़ो आंदोलन में भाग नहीं ले पाईं, लेकिन उनका घर एक बार फिर स्वतंत्रता सेनानियों के लिए आश्रय बना। साल 1946 में महात्मा गाँधी ने उन्हें कर्नाटक में कस्तूरबा ट्रस्ट का हेड बनाया।

कस्तूरबा ट्रस्ट का गठन गाँवों की स्थिति सुधारने के लिए किया गया। इसके लिए स्वयंसेवकों और ग्राम सेविकाओं को ट्रेनिंग दी गई ताकि वे गाँव के लोगों को शिक्षा दे सकें, उन्हें आत्म-निर्भर बनाएं और साथ ही, स्वास्थ्य कार्यक्रम चलाएं।

देश की आजादी के बाद उमाबाई को कई राजनैतिक पदों की पेशकश की गई लेकिन उन्होंने सभी के लिए मना कर दिया। यहाँ तक कि उन्होंने स्वतंत्रता सेनानियों को मिलने वाला कोई सम्मान और भत्ता तक नहीं लिया। उन्होंने कहा कि वह देश सेविका हैं और उन्होंने जो किया अपने राष्ट्र के लिए किया। उन्होंने अपना जीवन हुबली में अपने छोटे से घर 'आनंद स्मृति' में बिताया और साल 1992 में इस दुनिया को अलविदा कह दिया। दुःख की बात यह है कि आज बहुत ही कम लोगों को इस 'देश सेविका' के बारे में जानकारी है। भारत की इस महान बेटी को सलाम!

—निशा डागर

साभार : [hindi.thebetterindia.com](http://hindi.thebetterindia.com)



भारत की पहली  
महिला ग्रेजुएट

# कादंबिनी गांगुली :

## जिसके संघर्ष ने औरतों के लिए खुलवाए कोलकाता मेडिकल कॉलेज के दरवाजे

भारत में ब्रिटिश राज के दौरान जब महिलाओं को शिक्षा और अव्य अधिकार मिलना तो दूर, इनके बारे में बात भी नहीं की जाती थी तब उनकी सफलता ने बेस्वून कॉलेज को 1883 में एफए (फर्स्ट आर्ट्स) और स्नातक पाठ्यक्रम (ग्रेजुएशन कोर्स) शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया।

भारत में ब्रिटिश राज के दौरान महिलाओं को शिक्षा और अन्य अधिकार मिलना तो दूर, इनके बारे में बात भी नहीं की जाती थी। औरतों को घर की चारदीवारी में भी घूँघट के पीछे रखा जाता था और बाल विवाह, सती प्रथा जैसी परम्पराएं समाज का अभिन्न हिस्सा थीं।

महिलाओं को न तो पढ़ने की आज्ञा दी थी और न ही बाहर जाकर कोई नौकरी करने की, क्योंकि बहुत ही आम धारणा थी कि औरतों के काम सिर्फ शादी करना, घर का चूल्हा-चौका करना, बच्चों का पालन-पोषण आदि तक ही सीमित है। किसी भी अहम फैसले, अहम मुद्दे चाहे घर के हों या देश के, पर औरतों को बोलने का अधिकार नहीं था। पर आज हम आपको उसी दौर की ऐसी महिला से रूबरू करायेंगे जिन्होंने न सिर्फ चूल्हे से उठकर घर की दहलीज को पार किया, बल्कि देश के निर्माण में भी अपनी अमिट छाप छोड़ी। आज भी भारत देश इस स्त्री के ऋण से मुक्त नहीं हो सकता है।

यह कहानी है कादंबिनी गांगुली की—ब्रिटिश भारत में सबसे पहले ग्रेजुएट होने वाली महिलाओं में से एक। साथ ही, उनका नाम उन चंद महिलाओं में भी शामिल होता है जिन्होंने पूरे दक्षिण एशिया में सबसे पहले पश्चिमी चिकित्सा (वेस्टर्न मेडिसिन)



की पढ़ाई और ट्रेनिंग की।

कादंबिनी ने भारत में महिलाओं को घर से बाहर निकलकर नौकरी करने और खुद पर निर्भर होने के लिए प्रेरित किया।

भागलपुर में जन्मी कादंबिनी का पालन-पोषण चंगी, बारीसाल (अब बांग्लादेश में) में हुआ। उनके बचपन पर बंगाल-क्रांति और नवजागरण का काफ़ी

प्रभाव पड़ा। उनके पिता ब्रज किशोर बासु स्कूल में हेडमास्टर थे और साथ ही, ब्रह्म समाज से जुड़े हुए थे। उन्होंने भी अपने जीवनकाल में महिला उत्थान के लिए काफ़ी काम किया और 1863 में भागलपुर महिला समिति की स्थापना की। यह भारत में अपनी तरह का पहला महिला संगठन था।

युवा कादंबिनी ने अपनी औपचारिक शिक्षा बंग महिला विद्यालय से पूरी की, जिसका विलय आगे चलकर बेथ्युन स्कूल के साथ हो गया था। बेथ्युन स्कूल से कोलकाता यूनिवर्सिटी की दाखिला परीक्षा के लिए बैठने वाली वे पहली प्रतिभागी थीं। और फिर साल 1878 में इस परीक्षा को पास करने वाली वे पहली महिला बनीं।

उनकी सफलता ने बेथ्यून कॉलेज को 1883 में एफए (फर्स्ट आर्ट्स) और स्नातक पाठ्यक्रम (ग्रेजुएशन कोर्स) शुरू करने के लिए प्रोत्साहित

किया। पूरे ब्रिटिश राज में स्नातक पास करने वाली वे और चंद्रमुखी बासु पहली दो स्नातक थीं।

### कादंबिनी और द्वारकानाथ गांगुली

सिर्फ शिक्षा ही नहीं, बल्कि हर एक रुढ़िवादी परंपरा, जो महिलाओं को पैरों में बेड़ियां बनाकर पहना दी गयी थी, को उन्होंने कदम-कदम पर चुनौती दी। उन्होंने अपने शिक्षक, द्वारकानाथ गांगुली से शादी की, जो कि बंगा महिला विद्यालय में पढ़ाते थे और ब्रह्म समाज के अहम नेता थे। द्वारकानाथ उनसे उम्र में 20 साल बड़े थे।

ब्रह्म समाज के किसी भी नेता ने उनकी शादी का निमंत्रण पत्र स्वीकार नहीं किया।

जब सबको लगा कि प्रेजुएशन के बाद कादंबिनी अपनी पढ़ाई बंद कर देंगी, तो उनके पति ने उन्हें मेडिसिन पढ़ने के लिए प्रेरित किया। हालांकि, एक औरत होकर डॉक्टर बनने के उनके फ़ैसले की भद्रलोक समुदाय (बंगाल की उच्च जाति) में काफ़ी निंदा हुई। और यह निंदा इस हद तक थी कि 'बंगभाषी' पत्रिका के संपादक महेशचन्द्र पाल ने अपने एक कॉलम में उन्हें 'तवायफ़' तक कह दिया था।

संपादक की इस नीच हरकत से खफ़ा द्वारकानाथ ने उसे न सिर्फ़ खरी-खोटी सुनाई, बल्कि उन्होंने उसे पत्रिका का वह पन्ना निगलने के लिए मजबूर कर दिया जिस पर वह कॉलम लिखा था। साथ ही, उसे छह महीने कारावास और 100 रूपये बतौर जुर्माना भरने की सजा दी गयी।

### भारत की पहली महिला डॉक्टरों में से एक

लेकिन डॉक्टर बनने की भी उनकी राह बहुत मुश्किल थी। कादंबिनी के मेरिट लिस्ट में आने के बावजूद कोलकाता मेडिकल कॉलेज ने उन्हें दाखिला देने से मना कर दिया था क्योंकि इससे पहले कोई भी महिला वहां से नहीं पढ़ी थी।

द्वारकानाथ, एक अरसे तक, कोलकाता मेडिकल कॉलेज में महिलाओं के दाखिले और हॉस्टल आदि की व्यवस्था के लिए कार्यरत रहे। पर फिर भी क़ानूनी कार्यवाही की बात आने पर कॉलेज प्रशासन ने कादंबिनी को दाखिला दिया।

साल 1886 में आनंदी गोपाल जोशी के साथ वेस्टर्न मेडिसिन में प्रैक्टिस करने वाली वे पहली महिला भारतीय डॉक्टरों में से एक थीं। उन्होंने अपनी मेडिकल डिग्री बंगाल मेडिकल कॉलेज से प्राप्त की और इससे उन्हें प्रैक्टिस करने की अनुमति मिल गयी।

मेडिकल क्षेत्र में ही आगे की पढ़ाई के लिए वे 1892 में लंदन चली गयीं और एडिनबर्ग, ग्लासगो, और डबलिन से

विभिन्न प्रमाण पत्र प्राप्त किए। भारत लौटने के बाद, उन्होंने लेडी डफरिन अस्पताल में कुछ समय के लिए काम किया और बाद में अपनी निजी प्रैक्टिस शुरू की।

### सामाजिक अभियान

उनके विचार हमेशा से प्रगतिशील थे। कई सामाजिक अभियानों का उन्होंने सबसे आगे रहकर सञ्चालन किया। पूर्वी भारत में कोयला खदानों में महिला मजदूरों के अधिकारों की लड़ाई भी उन्होंने बढ़-चढ़ कर लड़ी। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 5 वें सत्र में पहले महिला प्रतिनिधिमंडल (वोट देने के लिए चुनी गई महिलाएं) का भी हिस्सा थीं।

जब 1906 में बंगाल विभाजन के चलते देश भी बंटने लगा, तो कादंबिनी ने 1908 में कोलकाता में महिला सम्मेलन का आयोजन किया और इसके अध्यक्ष के रूप में कार्य किया। उसी वर्ष, उन्होंने सत्याग्रह का खुलकर समर्थन किया और कार्यकर्ताओं को समर्थन देने के लिए धन जुटाने के लिए लोगों को संगठित किया।

उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गाँधी को कारावास होने के बाद गठित हुई ट्रांसवाल इंडियन एसोसिएशन के अध्यक्ष के रूप में भी कार्य किया और वहां के भारतीयों के लिए भी दिन-रात काम किया।

उन्होंने साल 1915 में सबके सामने कोलकाता मेडिकल कॉलेज के मेडिकल सम्मेलन में महिला छात्रों को दाखिला न देने की रिवायत के खिलाफ़ आवाज़ उठाई। यह उनके भाषण का ही असर था जिसने विश्वविद्यालय के अधिकारियों को अपनी नीतियों में संशोधन करने और सभी महिला छात्रों के लिए अपने दरवाजे खोलने के लिए प्रेरित किया।

1898 में अपने पति की मृत्यु के बाद वे सार्वजनिक जीवन से दूर हो गयीं और फिर धीरे-धीरे उनका स्वास्थ्य भी बिगड़ने लगा। अपनी मृत्यु से एक साल पहले उन्होंने बिहार और उड़ीसा में महिला खनन मजदूरों की मदद के लिए दौरा किया।

उन्होंने कभी भी किसी मेडिकल इमरजेंसी को संभालने से मना नहीं किया। अपनी मृत्यु वाले दिन, 7 अक्टूबर 1923 को भी अपनी मौत से 15 मिनट पहले वे किसी का इलाज करके लौटी थीं। पर बदकिस्मती से, जब तक उन्हें कोई मेडिकल मदद मिलती, वे इस दुनिया को छोड़कर जा चुकी थीं।

महिलाओं के हित और अधिकारों के लिए ताउम्र लड़ने वाली भारत की इस बेटे को कभी नहीं भुलाया जा सकता है!

—निशा डागर

साभार : [hindi.thebetterindia.com](http://hindi.thebetterindia.com)



## कुलसुम सयानी : हर एक, सिखाए एक को

हर एक, सिखाए एक को, आज शिक्षा को बढ़ावा देने की सबसे प्रभावी योजनाओं को एक महिला द्वारा लोकप्रिय बनाया गया था जो बहुत थोड़े लोगों को याद होगा लेकिन जो भारत में प्रौढ़ शिक्षा में अग्रणी थी।

कुलसुम सयानी का नाम कई लोगों को शायद याद न आए लेकिन उनका जीवन और काम वास्तव में उल्लेखनीय रहें हैं। प्रसिद्ध रेडियो एनाउंसर अमीन सयानी की माँ, कुलसुम 1900 में पैदा हुई थीं। उनकी प्रेरणा कोई और नहीं महात्मा गांधी थे। उनके पिता गांधीजी के निजी चिकित्सक थे। गांधी जी के



साथ सयानी की बातचीत और उनके परिवार में शिक्षा को जो महत्व दिया जाता था उससे उन्हें निरक्षरता उन्मूलन की जरूरत का एहसास हुआ। 1938 में 100 रुपये की पूंजी के साथ उन्होंने दो शिक्षकों को रखा और छात्र ढूँढने के लिए मुस्लिम इलाकों के चक्कर लगाए। अभी भी महिला शिक्षा की ओर रूढ़िवादी रवैये को देखते हुए, उस समय लड़कियों को शिक्षित करने के महत्व के बारे में परिवारों को समझाने के लिए सयानी के प्रयासों की कल्पना कीजिए। ऐसा भी होता था जब लोग हैरानी से, 'महिलाओं को पढ़ना सीखने की क्या जरूरत है?' कह कर उनके मुँह पर दरवाजा बंद कर देते थे।

उनके अथक प्रयासों ने साबित कर दिया है कि शिक्षा के क्षेत्र में काम करने की जबरदस्त जरूरत थी, जिसके लिए एक और अधिक संगठित संरचना की जरूरत थी। उनके अनुभव ने उन्हें कई समितियों का हिस्सा बनाया, जिनका गठन बंबई अब मुंबई में वयस्कों के बीच साक्षरता बढ़ाने के लिए किया गया था। वे पहली राष्ट्रीय योजना समिति के साथ जुड़ी हुई थी जिसकी स्थापना मुंबई में 1938 में कांग्रेस सरकार

द्वारा की गई थी। 1939 में गठित, मुंबई शहर सामाजिक शिक्षा समिति ने सयानी से मुस्लिम महिलाओं की सेवा के लिए उनके 50 केन्द्रों को चलाने के लिए कहा। धीरे-धीरे और लगातार कक्षाएं बढ़ी और संख्या 600 पर पहुंच गई। निश्चित रूप से उनके प्रयास केवल मुस्लिम समुदाय के लिए सीमित नहीं थे।

1944 में उन्हें अखिल भारतीय महिला सम्मेलन का महासचिव भी नियुक्त किया गया और उन्होंने महिलाओं के सशक्तिकरण के लिए काम किया।

लेकिन उन्हें शिक्षा के प्रसार के लिए सबसे अधिक याद किया जाता है। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' (10 मार्च, 1970) के नई दिल्ली संस्करण ने कहा, "1939 से, जब उन्होंने (कुलसुम सयानी) बंबई शहर सामाजिक शिक्षा समिति का कार्यभार संभाला, पांच लाख वयस्क पांच भाषाओं—उर्दू, हिन्दी, गुजराती, मराठी और तेलगु में से एक के माध्यम से साक्षर बन गए हैं। उनके दिन स्कूलों में बच्चों को वयस्कों को पढ़ाने के लिए उत्साहित करने की जल्दी में और रात साक्षरता की नई योजनाओं का सपना देखने में बीतती हैं।"

सयानी बहुत व्यावहारिक थीं और विशेष रूप से 'हर एक, सिखाए एक को' सहित उन्होंने साक्षरता प्रसार के लिए अनेक योजनाएं शुरू की। वे कई स्कूलों में जाया करती थीं और युवा छात्रों को हर दिन एक वयस्क को पढ़ाने के लिए 15 मिनट समर्पित करने के लिए प्रोत्साहित करती थीं। इस योजना के तहत, छात्रों

को हर दिन अपने परिवार, पड़ोस या घरेलू सहायकों में किसी भी वयस्क को एक नया अक्षर सिखाना और पढ़ना होता था। नैतिक मूल्यों के महत्व के प्रति अत्यधिक जागरूक, वे छात्रों को वयस्कों से उन्हें एक लोक कथा या महाकाव्यों से एक कहानी सुनाने का अनुरोध करने के लिए प्रोत्साहित करती थीं।

एक बार उन्होंने कहा था, “निम्न मध्यम वर्ग की महिलाएं, जो काम करने के लिए मजबूर हैं, उनके पास अपने बच्चों को स्कूल के बाद सड़कों पर छोड़ने के अलावा कोई चारा नहीं है, जबकि जो फैशनबल हैं, ब्रिज और माह-जोंग पार्टियों के बाद बच्चों के लिए उनके पास कोई समय नहीं बचता।”

एक दूसरी साक्षरता पहल जो उन्होंने शुरू की वो थी—जोर से पढ़ना। स्कूल के छात्रों को दोस्तों और वयस्कों को इकट्ठा करने और हर एक को बाहर जोर से पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया गया। उनका विश्वास था, नव-साक्षरों के आत्मविश्वास और रुचि में सुधार के लिए यह करना आवश्यक था। इन योजनाओं की सफलता सुनिश्चित करने लिए वे हर सप्ताह छात्रों से मिलने और उन्हें प्रोत्साहित करने के लिए तीन से चार स्कूलों का दौरा करती थीं। स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान जेलों में सड़ रहे सैकड़ों राजनीतिक कैदियों ने उनके द्वारा निकाले जाने वाले अखबार ‘रहबर’ को जोर से पढ़कर अपनी हिन्दुस्तानी में सुधार किया। 1940 में शुरू हुआ ‘रहबर’ नए शिक्षार्थियों के उद्देश्य से शुरू किया गया था। यह तीन लिपियों में प्रकाशित होता था—नागरी, उर्दू और गुजराती। ‘रहबर’ की भाषा हिन्दुस्तानी-हिन्दी और उर्दू का मिश्रण थी। वो ऐसा समय था जब दोनों भाषाओं में भेद और अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के प्रयासों में हिन्दी के समर्थक भारी संस्कृत शब्दों का उपयोग कर रहे थे और उर्दू के समर्थक भाषा को फारसी और अरबी से बाँध रहे थे।

गांधीजी नागरी में लिखी हिन्दुस्तानी या उर्दू लिपि के पक्ष में थे। ‘रहबर’ ने गांधीजी के हिन्दुस्तानी वाले विचार को आगे ले जाने की सोची। 16 जून, 1945 दिनांकित एक पत्र में गांधीजी ने सयानी को बेटी कुलसुम के रूप में संबोधित किया और लिखा है—“मुझे ‘रहबर’ के हिन्दी और उर्दू को जोड़ने का मिशन अच्छा लगा। इसे सफलता मिले।” अखबार देश भर की जेलों में बंद सैकड़ों राजनैतिक कैदियों द्वारा पढ़ा जाता था, गांधीजी की हिन्दुस्तानी सीखने में रुचि रखने वाला हर कोई अखबार लेता था। भारत की स्वतंत्रता से पहले के महीनों में जब संविधान सभा में विचार-विमर्श शुरू हुआ, भाषा विवाद फिर से भड़क उठा। गांधीजी द्वारा सयानी को 22 जुलाई, 1947 को लिखे पत्र से उनके हिन्दुस्तानी के साथ रहने के संकल्प का पता चलता है। उन्होंने लिखा है—

“भगवान जानता है कि आगे हमारे लिए क्या है। पुराने चीजें नई को जगह देने के लिए बदल रही हैं। कुछ निश्चित नहीं है। सी.ए. द्वारा जो भी फैसला किया जाएगा, तुम्हारे और मेरे लिए दो लिपियों के साथ हिन्दुस्तानी रहेगी।” सयानी ने दुनिया भर में शिक्षा के कई अंतरराष्ट्रीय मंचों पर भी भारत का प्रतिनिधित्व किया। उन्होंने 1953 में पेरिस (फ्रांस) में यूनेस्को सम्मेलन में भाग लिया और विचारों की सहभागिता की और कई देशों के प्रतिनिधियों के साथ बात कर नए दृष्टिकोण प्राप्त किए। उनकी अन्य रुचि शांति के साथ भारत और पाकिस्तान के बीच समझ बढ़ाने को बढ़ावा देने में थी। उनके एक कार्यकर्ता के रूप में अच्छी पहचान से उन्हें दोनों देशों में शीर्ष नेताओं के साथ औपचारिक बैठक में मदद मिलती थी। पाकिस्तानी राजनेताओं में, अन्य वरिष्ठ नेताओं के साथ उन्होंने पाकिस्तानी राष्ट्रपति, गुलाम मोहम्मद और अयूब खान से सीधे मुलाकात की।

भारत में ‘रहबर’ के संपादक के रूप में उनकी प्रतिष्ठा से उन्हें नेहरू, बी.जी. खेर, वी.के. कृष्ण मेनन, रफी अहमद किदवई और इंदिरा गांधी के साथ मिलने का समय लेने में मदद मिली। उन्हें पाकिस्तान के साथ दोस्ती बनाने के उनके प्रयासों के लिए भारत में सभी रंग के नेताओं से प्रोत्साहन और समर्थन मिला। हालाँकि, नेहरू और रफी किदवई जो पाकिस्तान के साथ संबंधों में सुधार लाने के सरोकार से इत्तेफाक रखते थे उनके निधन के बाद, उन्होंने अपनी ऊर्जा हिन्दुस्तानी प्रचार के लिए समर्पित कर दी। सयानी का जीवन कई लोगों के लिए एक प्रेरणा है। जब उनकी शादी हुई तब वे केवल 18 साल की थीं। उन्होंने अपने परिवार और सामाजिक रुझान को बराबर जोश से निभाया। उनके बेटे, हामिद और अमीन दोनों रेडियो प्रसारकों ने अपनी खुद की पहचान बनाई। अमीन सयानी “हिन्दुस्तानी में स्पष्ट और विश्वसनीय संचार की प्रारंभिक शिक्षा” का श्रेय ‘रहबर’ के प्रकाशन में अपनी माँ की सहायता में शामिल होने को देते हैं।

20 साल अकेले चलने के बाद, 1960 में बुढ़ापे और नौकरशाही ने उन्हें ‘रहबर’ बंद करने के लिए मजबूर कर दिया। वे हिन्दुस्तानी प्रचार सभा के साथ जुड़ी रहीं और कई व्याख्यान और सेमिनार आयोजित किए। हालाँकि, उन्होंने निरक्षरता उन्मूलन के अपने आजीवन जुनून से कभी ध्यान नहीं हटाया। 1960 में उन्होंने पद्मश्री प्राप्त की और 1969 में उन्हें नेहरू साक्षरता पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया। सयानी, जिनकी 1987 में मृत्यु हो गई, उस युग से थी जहाँ लोग बिना किसी उम्मीद के राष्ट्र को अपना सर्वश्रेष्ठ देने में विश्वास करते थे।

—दानिश खान

साभार : [www.udanti.com](http://www.udanti.com)



# खाली-पीली

## हैप्पी विमंस डे या महिला दिवस की बधाई सुनना अच्छा नहीं लगता

ऑफिस में क्रेच खोलिए, मांओं को छुड़ी देने में नाक-भों न सिकोड़िए, महिलाओं पर अश्लील चुटकुले न बजाइए, कुछ भी ऐसा करिए और तब कहिए कि आप महिलाओं का सम्मान करते हो।

प्रसव का दर्द और मातृत्व का सुख तब भी था जब भाषाएं और सभ्यताएं भी विकसित नहीं हुई थीं। यानी मातृत्व का इतिहास दुनिया की किसी भी सभ्यता के इतिहास से भी पुराना है। समय-समय पर दुनिया के अलग-अलग हिस्सों में स्त्रीवादी लेखिकाओं ने मातृत्व के बारे में अपने विचार रखे हैं। लेकिन अपने भारतीय समाज में तमाम स्त्रीवादी आंदोलनों, विचार-विमर्श, चर्चा और लेखन के बाद भी एक बड़ी हद तक मातृत्व का पुरुष-पाठ ही प्रचलित है।

मानव इतिहास के जन्म के समय से स्त्री मां बनती और मातृत्व को जीती आ रही है, लेकिन मातृत्व का स्त्री-पाठ लिखने की गुंजाइश आज शताब्दियों के बाद भी बनी हुई है। अफसोस कि हम सदियों से मातृत्व के पुरुष-पाठ को ही सदियों से पढ़ते, सुनते और गुनते आ रहे हैं। पुरुषों ने खुद को तो 'लेबर रूम' से कोसों दूर रखा, लेकिन उनका मातृत्व-पाठ हमारी कोख से दिमाग तक को विषाक्त बनाए हुए है।

यह अफसोसजनक है कि पितृसत्ता ने बच्चा जनने जैसे निहायत स्त्रैण काम को भी खुद परिभाषित किया है। जो गर्भावस्था और प्रसव-दर्द का ककहरा भी नहीं जानते, उन्होंने मातृत्व का पूरा शब्दकोश लिख डाला है। मातृत्व के महिमामंडन के दौरान यह बात हमेशा छिपाई गई कि मां बनने में सुख से पहले भयंकर दुख-दर्द भी है। ऐसा इसलिए किया गया ताकि हम प्रसव के घोर यातना-शिविर की चीखों और टीसों पर ध्यान न लगाकर, साल दर साल

पितरों के वंशफूल खिलती रहें।

हमें यह भी कभी नहीं बताया गया, कि मां बनना हमेशा ही सुखद नहीं है। आप कम उम्र में मां बनी लड़कियों, बेटियों की मांओं और अविवाहित मांओं से जान सकते हैं कि वे कितनी सुखी हैं। सुखी हैं भी या नहीं! असल में हमारा समाज ऐसी असंख्य लड़कियों (बालिका वधुओं) को जबरदस्ती प्रसव में धकेलता है जो मां बनने लायक ही नहीं। दूसरी तरफ जो मां बनने की प्रबल इच्छा रखती हैं (तलाकशुदा, परित्यक्ता, विधवा), उन्हें मातृत्व सुख से वंचित किया जाता है। हमारे देश में मांओं और मातृत्व का बेहद ऊंची आवाज में महिमामंडन तो किया गया है, लेकिन मांओं की बुनियादी जरूरतों और सुविधाओं को हद दर्जे तक अनदेखा किया गया है।

आज तक भी न देश की सारी प्रसूताओं को डाक्टर नसीब हुए हैं, न उनकी खून की कमी को पूरा किया जा सका है और न ही प्रसव की मौतों को न्यूनतम किया जा सका है। न पिताओं को आज तक मांओं को सहयोग करना आया है और न ही सरकारी और प्राइवेट नौकरियों में गर्भवतियों और कामकाजी मांओं के लिए लचीली श्रम-नीतियां बनी हैं। यहां तक कि कानून बने होने के बावजूद आज तक सभी कार्यस्थलों पर बच्चों के क्रेच तक नहीं बने।

यह अजीब है लेकिन सच है कि मातृत्व सुख को बढ़ाने में इंसानों से ज्यादा निर्जीव चीजों ने सहयोग किया है। असल में गर्भ-निरोधकों

और बच्चों के डाइपर्स ने मातृत्व सुख को बढ़ाने में दूसरी किसी भी चीज से ज्यादा सहयोग दिया है। जिन मांओं को साल-दर-साल प्रसव के दर्द में धकेला जाता था वे गर्भनिरोधकों के सहयोग से तुलनात्मक रूप से कुछ समय सांस ले सकती हैं। बारिश के समय, सर्दियों में, रातों में और सफर में बच्चों के डायपर्स ने मांओं को बड़ी राहत की सांस दी है।

यह अजीब है लेकिन सच है कि मातृत्व सुख को बढ़ाने में इंसानों से ज्यादा निर्जीव चीजों ने सहयोग किया है। असल में गर्भ-निरोधकों और बच्चों के डाइपर्स ने मातृत्व सुख को बढ़ाने में दूसरी किसी भी चीज से ज्यादा सहयोग दिया है। जिन मांओं को साल-दर-साल प्रसव के दर्द में धकेला जाता था वे गर्भनिरोधकों के सहयोग से तुलनात्मक रूप से कुछ समय सांस ले सकती हैं। बारिश के समय, सर्दियों में, रातों में और सफर में बच्चों के डायपर्स ने मांओं को बड़ी राहत की सांस दी है।

पोतड़ों से लेकर डाइपर तक का सफर बहुत-बहुत लंबा, भारी और कष्टों से भरा रहा है। हालांकि आज भी डाइपर का आराम मुठ्ठी भर माएं ही ले पा रही हैं। काश! वह दिन भी इस मुल्क में कभी आए, जब सारी लड़कियों को सैनिटरी नैपकिन और मांओं को बच्चों के लिए डाइपर नसीब हों! (डाइपर की खोज करने वाली मैरिऑन डोनोवैन को दुनिया की सारी मांओं की तरफ से बेशुमार प्यार और दुआएं। उनका इस्तकबाल बुलंद हो!)

सदियां बीत जाने के बाद भी मातृत्व से जुड़ी कुछ चीजें जस की तस बनी हैं। सारी पीढ़ियों की स्त्रियों के लिए प्रसव के दर्द, बच्चे के साथ के रतजगों, दूध से भरी हुई छातियों के तनाव और बच्चे को सीने से लगा के दूध पीते देखने से मिलने वाले आनंद में भारी समानता है। बल्कि, जैसे पूरी दुनिया के इंसानों के आंसू का रंग एक है, हंसी की खनक एक है, खून का रंग एक है, वैसे ही पूरी दुनिया की मांओं के प्रसव का दर्द और मातृत्व-सुख भी एक ही है। कामवाली बाई से लेकर, इंदिरा गांधी, किरन बेदी, मैरी कॉम, और अरबों-खरबों की मालकिन टीना अंबानी तक, सबकी प्रसव-पीड़ा एक सी है। किसी भी एक चीज का सिक्का इस 'प्रसव के यातना-शिविर' में नहीं चलता। चीखों से स्याह हुए 'लेबर रूम' में सब की सब दर्द के एक ही कोड़े से पिटती हैं।

जैसे लेबर रूम से मांओं के सीधे तार जुड़े हैं, वैसे ही पिताओं के भी जुड़ने चाहिए। बल्कि मातृत्व के बरक्स पितृत्व की पूरी अवधारणा पर भी बात होनी चाहिए। (अपवादों का सम्मान करते हुए) मैं पिताओं से कहना चाहूंगी कि बड़प्पन 'वीर्यदान' करने भर में नहीं। सांड भी वीर्यदान ही करते हैं। आप पिता हैं, बड़प्पन पितृत्व निभाने में है। जैसे पितृसत्ता द्वारा गलत व्याख्या के कारण माएं मातृत्व का पूरा सुख नहीं ले पा रहीं वैसे ही ज्यादातर पिता भी पितृत्व सुख से कोसों दूर हैं। यहां अनपढ़ से लेकर पढ़े-लिखे और गांव से लेकर शहर तक के पिताओं की एक ही सोच है—ये औरतों का काम है वे ही जानें।

जी हां हम जान ही रही हैं, खूब समझ रही हैं धीरे-धीरे। हम जान रही हैं कि साल दर साल बेटा पैदा करने के इंतजार में हमारी देह झोला बन जाए, इसकी किसी को रत्ती भर भी चिंता कभी नहीं हुई। हम समझ रहीं हैं कि यह इत्तेफाक नहीं कि हम मरघट नहीं जातीं। हमें सृजन संभालना है। हम विनाश और मरण की नहीं, जीवन और सृजन की वाहक हैं। आपकी पुश्तों ने हमें बार-बार 'नरक का द्वार' कहा, सदियों तक कहा। अब मैं कहती हूँ और पलट-पलट कर कहूंगी कि 'सृजन द्वार' की स्वामिनी हैं हम और सिर्फ हम ही हैं! हम सृजन संभाल रही हैं, आप हमें संभाल लीजिए।

मांओं/स्त्रियों के जीवन को जरा सा सहज और सुखद बनाने के लिए व्यवहार में बहुत सारी चीजें की जा सकती हैं। पितृत्व निभाए, ऑफिसों में क्रेच खोलिए, मांओं के काम के घंटे और कार्यशैली में लचीलापन लाइए, मांओं को छुट्टी देने में नाक-भौं न सिकोड़िए, गर्भवतियों को अजीब सी नजरों से न देखिए, सारी मांओं को प्रसव के समय डाक्टर उपलब्ध कराइए, उनकी खून की कमी को कम करिए, उन्हें गर्भपात का आदी न बनाइए, स्त्रियों के बारे में अश्लील चुटकुले मत बनाइए। कितनी चीजें हैं करने को।

कुछ भी-कुछ भी ऐसा करिए और हमें महसूस करवाइए कि आप सच में मांओं का, महिलाओं का सम्मान करते हैं। हमें खाली-पीली 'हैप्पी विमंस डे' या 'महिला दिवस की बधाई' सुनना जरा भी नहीं सुहाता।

—गायत्री आर्य

साभार : [satyagrah.scroll.in](http://satyagrah.scroll.in)

### इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : [notowar.isd@gmail.com](mailto:notowar.isd@gmail.com) / वेबसाइट : [www.isd.net.in](http://www.isd.net.in)

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017